

सहजानंद शास्त्रमाला

तत्त्व-रहस्य

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास
गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001



श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
(४)

तत्त्वरहस्य (प्रथम भाग)



रचयिता :—

अध्यात्मयोगी शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ दुल्लभ मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज



ग्रन्थकर्ताका संक्षिप्त परिचय

इस आध्यात्मिक ग्रंथके लेखक पूज्य १०५. सुल्लक श्री मनोहरजी वशीं सहजानन्दजी महाराज हैं। इस वर्ष इन्दौर जैनसमाजके पुण्योदयसे आपका चातुर्मास इन्दौर नगरमें हुआ था। इन्दौरके जैन इतिहासमें आपका चातुर्मास अद्वितीय प्रभावना कारक रहा। प्रतिदिन प्रतःकाल एवं रात्रिको लाउडस्पीकर पर आपका आत्म कल्याणकारी सरल सुबोध उपदेश होता था।

चार पांच आम सभाओंमें भी आपका अमूल्य उपदेश कराया गया। एक आमसभा श्रीमंत महाराजाधिराज इन्दौर नरेशके अध्यक्षतामें हुई थी। जिसमें लगभग बीस हजार जैन अजैन भाईयोंकी उपस्थिति थी। तथा जैनधर्मकी बड़ी प्रभावना हुई।

श्री दशहक्षण-पर्वमें रात्रिको सभा मण्डपमें आप ही शास्त्र प्रवचन करते थे। जिसमें प्रतिदिन ४, ५ चार, पांच हजार जैन अजैन जनता मंत्र-मुग्धकी तरह धर्माभ्युत्थान करती थी।

आपका ३७ वीं वर्षगांठका उत्सवका कार्यक्रम जैन समाजकी ओरसे एक सप्ताह तक मनाया गया। जन्म दिवस ता. १३, १०, ५२ को अर्नाभषिक्त जैन सम्राट राव राजा श्रीमंत सर सेठ हुकमचंदजी साहेब नार्डट इन्दौर की अध्यक्षतामें मनाया गया था। जिसमें इन्दौर स्थित सभी जैन विद्वानोंने अपने भाषणोंमें आपको विनम्र भद्रांजलियां अर्पित की थीं। इस सभाकी उपस्थिति और

मनोरम दृश्य अर्घर्णनीय हैं । इन्दौर दि. जैन विद्वत् समितिकी ओरसे भी आपकी सेवामें एक अभिनन्दन पत्र समर्पित किया गया था । यह विद्वत् समिति श्री पू. बुल्लकजीके सहयोगसे स्थापित हुई है । इसके ३० तीस दि. जैन विद्वान सदस्य हैं । श्री स्यद्वाद बारिधि न्यायालंकार पू. पण्डित वंसीधरजी साहव इन्दौर इस समितिके अध्यक्ष हैं । इन्दौर विद्वत् समितिकी स्थापना करके पूज्य बर्णोजी महाराजने अपनी संगठन शक्तिका विशाल परिचय दिया है ।

चातुर्मास भ्रमासि पर आपकी विदाईके दिन प्रातः कालसे ही पूरे नगरमें हलचल सी पैदा हो गई थी, हजारोंकी संख्यामें स्त्री पुरुष आपको स्टेशन तक भव्य विदाई देने आए । जनताका स्नेह अविरल अश्रुधारामें प्रवाहित होने लगा पूज्यबर्णोजी तथा पण्डित महानुभावोंके उपदेश द्वारा समझाने पर तो यह विदाई का दृश्य विरहपीड़ाकी चरम सीमापर पहुच गया । ऐसा प्रभावोत्पादक हार्दिक धर्म स्नेह गुणानुराग जीवनमें पहिली मर्तबा ही मैंने देखा है ।

इतनी छोटी केवल ३७ वर्षकी आयुमें इतना निर्मल शास्त्रीय ज्ञान, सरलस्वभाव, चारित्र्य की उज्ज्वलता, मंदकषाय, दूरदेशता, मिलनसारता आदि समस्त उत्कृष्ट मनवोचित सद्गुणोंका सद्भाव इस बातके द्योतक हैं कि प्रयत्न करने पर मनुष्य अपने अमीष्टको प्राप्त कर सकता है ।

अब मैं महाराजश्रीका कुछ संक्षिप्त परिचय दे देना उचित समझता हूँ । ताकि पाठकगण इस महापुरुष के जीवन

(१)

के उतार चढ़ाव को जानकर संसार का स्वरूप समझ सकें । जीवन परिचय लिखने का मुझे हक भी है । क्योंकि मैं महाराज श्रीके विद्याभ्यन काल का कई वर्षों तक और आखरी तक साथी रहा हूँ ।

आपका जन्म कार्तिक वदी १० बि. सं. १९७२ का है । सिर्फ ६ वर्ष की अवस्था में आपके पिता श्री गुलाबचन्दजी सा० का स्वर्गवास हो गया इस विपत्तिकाल में आपके घर में विधवा माताजी और एक छोटा भाई था । पू. माताजी के जिम्मे इन दोनों अशोध बालकोंके लालन पालनकी एक मात्र जिम्मेवारी आपड़ी । हजारों की साहूकारी जो पिताजी का व्यवसाय था चौपट हो गई फिरभी आपकी धर्मप्राण माताजी ने बड़ी ही गंभीरता से यह सब सहा और बालक की पढ़ाई में कोई बाधा उपस्थित नहीं होने दी ।

आठ ८ वर्ष की अवस्था में ही आप सागर-संस्कृत-विद्यालय में पढ़ने के लिये गये थे । यह था वह शुभ दिन जिस दिन से जैन धर्म के अध्ययन को प्रारंभ किया जिसे पढ़कर इन्होंने संसार को आलोकित कर दिया । इसका श्रेय प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद १०५ श्री बुल्लक न्यायाचार्य पंडित गणेश-प्रसादजी वर्णी महाराज को ही है । आपने ही बालक मनोहरलाल को सागर विद्यालय में प्रविष्ट कराया था । आपकी स्मरणशक्ति अत्यंत तीव्र थी, क्षयोपशम अच्छा था । शास्त्रीय कक्षा के शास्त्रों को जिनके पाठ को याद करने के लिये विद्यार्थियों को प्राय ७-८ घंटे परिश्रम करना पड़ता है । आप केवल १-२ घंटे के वाचन मात्र से कण्ठस्थ कर लेते थे । यदि उस समय आपके क्षयोपशम का समुचित लाभ उठाया जाता तो आप अन्य कई भाषाओं के ज्ञाता होते ।

(४)

यह बात खास ध्यान देने की है कि मात्र १७ साल की आयु में आप न्यायतीर्थ, शास्त्री परित्या में उत्तीर्ण हो गये थे ।

आप दावावस्था में बड़े ही कोमल शरीर थे, स्वभाव के भोले भाले कोध और लड़ाई भगड़ों से कोसों दूर । अल्प भाषी, परन्तु जितना भी बोलते वह स्पष्ट और तीखा होता था । संक्षिप्त और सूत्र रूप भाषा बोलना आपका नैसर्गिक गुण था । हम सब बालक इनका आदर करते थे । गुरुजनों की शुभ कामनाएँ एवं आशीर्वाद आपके साथ थे । यह तो मैं बतला ही चुका हूँ कि आपकी तीक्ष्ण बुद्धि और स्मरण शक्ति की बड़ी विचित्रता थी । इसलिये पाठ याद करने की फिक्र और भंगल तो थी ही नहीं अतएव आप खूब ही मन मौजी थे । एक बार आप हारमोनियम बाजा और बांसुरी खरीद लाये और न जाने अब कुछ ही दिनों में कैसे सीख भी लिये । अच्छा खासा मनोरंजन हम सबका रहा । परन्तु यह ज्यादा दिन न चल सका और अधिकारियों की आज्ञा से यह गाना बजाना बंद कर देना पड़ा । पर एक बात अवश्य हुई साथी मनोहरलालजी को अपने मधुरकंठ का आभास मिल गया । बाजा बजाने के साथ गाना भी गाना चाहिये, गाना दूसरों का लिखा हो यह उचित बात न जंची लिहाजा मनोहरजी ने स्वयं भजन बनाना शुरू कर दिये । मतलब यह कि कविता करने की उमंग और अभ्यास जगा । इसी का फल है कि श्री वर्णाजीने ग्रहस्थ जीवन में जो भजन लिखे हैं वे बड़े ही प्रभावोत्पादक हैं जिनका संग्रह "मनोहर पद्यावली" पुस्तक रूप से छप चुका है । आप अच्छे कवि, सुन्दर लेखक एवं महान व्याख्याता हैं ।

हां, एक बात कहने से रह गई कि आपके दो विवाह

(५)

हुए । पहला १३ वर्ष की आयु के लगभग । पहली पत्नी के स्वर्गवास हो जाने पर कुटुंबीजन, गांववालों एवं सास-ससुर की अत्यन्त प्रेरणा से दूसरा विवाह २० वर्ष की उम्र के लगभग हुआ । एक कन्या भी पैदा हुई किन्तु वह अल्पायु में ही बिलग हो गई । होनहार भविष्य तो और ही था । द्वितीय पत्नी भी २६ वर्ष की उम्र में इन्हें अकेला छोड़ स्वर्ग सिधार गई । द्वितीय पत्नी की हगनावस्था में ही पू. श्री ने आजन्म प्रह्ववर्ष के पालन का संकल्प कर लिया था ।

जब आप २० वर्ष के हुअे और कानूनी बालिग बने तब अपने पिताजी की इधी हुई कई हजार रुपयों की वसुली की मियाद बाहर होते हुअे भी सरकारी आज्ञा प्राप्त कर ली । परन्तु कर्जदारों की गरीबी और उनके सद्व्यवहार का जब आपने अनुभव किया तब उन कागज पत्रों को समाप्त कर दिया गया तथा जो रुपया वसूलभी हुए उ.हें धार्मिक कार्यों में और गरीबों के हित में खर्च कर दिये । इससे आस पास की जनता और सैकड़ों गांवों में आप अत्यंत लोक प्रिय बन गये ।

आपने सिर्फ १७ वर्ष की तरुणावस्था में अनुकूल समय जान श्री सिद्धक्षेत्र शिखरजी पहुँच वहां अप ने शिक्षा गुरु प्रातः स्मरणीय पू. क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज के चरणों में बैठ आचक व्रत ग्रहण कर लिबे । अब क्या था ? संयम और ज्ञानाभ्यास के द्वारा परम सुख शांति प्राप्त करना ही परम लक्ष्य रह गया । एक वर्ष बाद ही २८ वर्ष की अवस्था में उक्त गुरुजी के समीप सप्तम प्रतिमा ग्रहण करली । धीरे धीरे परिणामों को निमल करते सन १९४६ के मध्य में आपने अपने पूज्य शिक्षा दीक्षा गुरु 'बड़े वर्णीजी से ही वर्तमान क्षुल्लक पद की दीक्षा ग्रहण करली ।

(६)

अब वर्तमान में आपके आध्यात्मिक, सरस, उपयोगी प्रवचनों से एवं स्वरचित ग्रंथों से तथा आपके द्वारा स्थापित उत्तर प्रांतीय दिगम्बर जैन गुरुकुल हस्तनागपुर एवं कई इतर संबंधित संस्थाओं से जैन समाज का बड़ा कल्याण हो रहा है। जिसने एक बार भी आपके दर्शन और उपदेशामृत का पान कर लिया वह आपका भक्त बन गया तथा आत्म विकास की ओर अग्रसर होने लगा। इन समस्त अनुरूप गुणों के कारण जनता आपको पूज्यपाद न्यायाचार्य प्रातः स्मरणीय १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी महाराज के उत्तराधिकारी, के रूप से सम्बोधित करती है। छोटे वर्णीजी और सचमुच आप इसी योग्य हैं भी।

पूज्य वर्णीजी महाराज की जन्म कुण्डली

७ सु शु	६	१ व.
८	बुध	४ मं
९	श्री	३ श
१० रा		२
११ शु	१२	१

जन्म—कार्तिक कृष्ण ६ सोमवार रात्रि के पिछले समय ५॥ बजे। बुध उच्च, सूर्य नीच, मंगल नीच, शुक्र स्वग्रही। सिंह राशि

—संक्षिप्त में ग्रहों का फल—

(१) बुध लग्नेश और राज्येश होकर स्वयं लग्न में

Report any errors at vikasini@gmail.com

(७)

उच्च का होकर बैठा है तथा किसी भी अन्य ग्रहकी शुभाशुभ दृष्टि से रहित है इसलिये आपकी शारीरिक प्रवृत्तियां लोकोत्तम रहेंगी ।

(२) शनि विद्याभवन का मालिक है उसपर ज्ञानकारक गुरु की पूर्ण दृष्टि है तथा गुरुशनि का महान् शुभ योग नवमपंचम योग हो रहा है इस योग में जातक तार्किक एवं बुद्धिशाली होता है ।

(३) ह्री तथा सुख भवन का मालिक गुरु खुद के व्यय षष्ठ स्थान में बैठा है तथा मंगल और शनि इन दो ग्रहों की उस या उसके स्थान पर दृष्टियां है । इस योग में ह्री न रहे ।

(४) शुक्र गुरु इन दोनों शुभ ग्रहों तथा आचार्यों का शुभ योग नवमपंचम योग है इस लिये प्रत्येक बात को बुद्धि की कसौटी पर कस लेना जातक का स्वाभाविक गुण रहेगा ।

(५) चंद्रगुरु का समसप्तक होने से विचारों में निमग्नता रहेगी ।

(६) राहु मंगल का समसप्तक योग होने से तथा सूर्यमंगल जैसे क्रूर और नीचस्थ ग्रहों का केंद्र योग होने से जातक के कभी कभी उद्विग्नता पैदा होने के कारण बनते रहेंगे परंतु वह अन्य बलवन्त शुभ योगों के कारण क्षणिक होंगे ।

(७) भाग्य और धर्म भवन का मालिक शुक्र अपने

घर को पूर्ण दृष्टि से देखता है इसलिये इसमें न्यूनता नहीं आने देगा । परंतु व्ययेश सूर्य की दृष्टि होने से निग्रन्थ होने की भावना होते हुए भी वह पद धारण कर सकेंगे ।

(८) विद्याभवन का मालिक शनि तथा भाग्येश शुक्र इन दोनों परम मित्रों का त्रिकोणेश होकर नवमपंचम योग हुआ है । इस योग में जातक अपनी विद्या का पूर्ण उपयोग करता हुआ धर्म में विशेष रुचि रखेगा यह योग इस पत्रिका में बड़े महत्व का है ।

नोट-मैंने स्वयं के फलितज्योतिष के अनुभव के आधार पर यह फलित लिखा है । आशा है इस विषय के अधिकारी विद्वान् अन्य उपयोगिताओं पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे ।

कुन्दनलाल जैन शास्त्री

न्यायतीर्थ

मोती महल; इन्दौर.

१६-११-५२

संपादकीय वक्तव्य

पूज्य कुल्लुक मनोहरजी वर्णी गृहस्थावस्था में भांसी जिल्लांतर्गत दुमदुमा गांव के निवासी हैं। आप गोलालारीय जाति के अवतंस हैं। कई वर्षों से आप ७ वीं प्रतिमा से चढ़कर ग्यारवीं प्रतिमा के व्रतों का आचरण करते आ रहे हैं। आप प्रकृत्या हंस मुख और मिष्ट भाषी हैं। आप अध्यात्म-रसके रसिक हैं। आप के जितने भी उपदेश होते हैं आत्मा विषयक ही होते हैं। आपने करीब ३० ग्रंथों की रचना की हैं उनमें से ३ ग्रंथ तो प्रकाशित हो चुके हैं ये चौथा ग्रंथ है। इसमें २२४ विषय प्रति पाद्य रहेंगे जो पांच खण्डों में वर्णित रहेंगे। इस ग्रंथ का नाम तत्त्व रहस्य है। जिसका ये प्रथम खण्ड है। इस प्रथम खण्ड में २७ विषयों का विवेचन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। हर एक विषय को व्यवहार और निश्चयनय से यथार्थ सिद्ध किया है। भाषा कुछ संस्कृत बाहुल्य होने से क्लिष्ट जरूर हो गई है लेकिन भाव से बड़ी सरस है। मुमुक्षु भव्यों के हित के लिये मैंने आपके कितने ही व्याख्यान जैन पत्रों में प्रकाशित करा दिये हैं।

महाराज जब व्याख्यान देते हैं तमाम जिज्ञासु जनता स्तब्ध हो जाती है। आपके व्याख्यानों में मूलतत्त्व को समझाने के लिये दृष्टान्तों का बड़ा सुन्दर चित्रण रहता है। दृष्टान्तों में विषय को संघटित कर देने से उपस्थित जनता

मंत्रसुगंध सी हो जाती है। प्रश्नों का समाधान बहुत अच्छे ढंग से प्रसन्न मुद्रा से करते हैं। क्रोध तो सायद आप के खजाने में है ही नहीं। बुन्देलखण्डीय भाषा के ललित शब्दों में आपका व्याख्यान बिलकुल प्राकृतिक अतएव मिष्ट वा प्राह्य होता है।

आपने इस वर्ष इन्दौर की जनता के आग्रह से चौमासा इन्दौर में ही किया था चौमासे के पहिले ही आप जैन हृदय सम्राट अनेक पद विभूषित सरसेठ सा. हुकमचन्द्रजी सा. के बुलावे पर इन्दौर आये थे। आपके द्वारा होने वाली तत्त्व चर्चा को सुनकर अन्ध्रात्मारस प्रेमी सम्यक्वाग्बेबी सरसेठसा. बहुत प्रभावितहुषसेठ सा० शहर से २ मील तुकोगंज में रहते हैं वहीं पर विद्वानों की गोष्ठी में बैठकर शास्त्र मनन करते हैं। आपका विचार हुआ कि महाराज के वक्त्रव्य का रस शहर की सारी जनता को भी मिले इसलिये महाराज के व्याख्यानों की व्यवस्था दीतवारया की जैन धर्मशाला में की गई। शहर की सारी जनता और विद्वान वर्ग आपके व्याख्यानों को सुनने को बड़ी संख्या में उपस्थित होने लगे। सभी जनता कीइच्छा हुई कि महाराज का वर्षाकाल यहीं पर व्यतीत कराया जाय इसलिये महाराजजी से नम्र निवेदन किया, महाराज जी को लो के लिये मेरठ मुजफ्फरनगर के पंचायती प्रतिनिधि इन्दौर में ही उपस्थित,थे फिर भी इन्दौर की जनता के आग्रह को न टाल सके अत एव इन्दौर में वर्षायोग करना निश्चित किया गया।

मैं भी महाराज के सान्निध्य में गया औरय ही से मेरा महाराज से परिचय हुआ। यों तो आपकी ख्याती मैं गजटों से जानता ही रहता था उससे उत्सुकता भी आपके दर्शनों

की बड़ी उत्कट थीं परन्तु प्रत्यक्ष परिचय और व्याख्यानमाला ने मुझ पर अपूर्व प्रभाव डाला। इसमें संदेह नहीं कि आप सदृश विद्वान् व्रती समाज में विचरें तो भोली जैन समाज का उद्धार हो जावे। दिगम्बर जैन समाज का इस शिक्षा की तरफ ख्याल कम ही है। चारित्र्य हो पर ज्ञान की उत्कटता न हो तो व्रती की शोभा नहीं होती। महाराज जी इस अपवाद को दूर कर दिया है। आप ज्ञान के साथ साथ अपने उपात्त दर्जे के आचरण में भी पूर्ण दृढ़ हैं। आपके दीक्षा शिक्षा गुरु पूज्यपाद प्रातः ~~वेद~~ सुल्लफ न्यायाचार्य गणेश प्रशादजी वर्णी हैं। इनमें उनही की प्रकृति का पूर्ण प्रतिबिम्ब है।

इस ग्रंथ का स्वाध्याय सभी तत्त्व जिज्ञासुओं को करना चाहिये। वास्तव में देखा जाय तो तत्त्व ज्ञान के बिना रत्नत्रय की प्राप्ति होती ही नहीं है। तत्त्व ज्ञान के न होने से ही प्राणी मिथ्यात्व को अपनाये हुए हैं जिसके संबंध से पर पदार्थों के अपनाने में लोग सुख का अनुभव करते हैं सच्चे सुख की पहिचान करने से सदा विमुक्त रहते हैं। सच्चा सुख निराकुलता में पाया जाता है; निराकुलता पर पदार्थों से विचेक पूर्वक संबंध विच्छेद कर लेने से होती है। पर पदार्थों का विच्छेद तत्त्वज्ञान से ही होता है। तत्त्व रहस्य के पूर्ण ज्ञाता तो अर्हत भट्टारक ही होते हैं, उस पद की प्राप्ति का मार्ग क्रम-क्रम से विकसित होता है, होता उसी आत्मा में है जिसका मिथ्यात्व बिल्कुल दूर हो जाता है। मोही आत्मा कभी भी स्वसंमुख नहीं हो सकता है। मिथ्यात्व के छूटने से सम्यक्त्व होता है, सम्यक्त्व के होने से स्वरूपाचरण चारित्र्य के साथ भेद विज्ञान होता है, भेद विज्ञान से भाव भासना होती

है फिर धीरे २ पर पदार्थों के संयोग से अरुचि और स्वस्वरूप में रुचि होने लगती है उसी के साथ क्षयोपशमकी निर्मलता से पदार्थ का यथार्थ अवबोध होने लगता है जिससे पर परिणति छूटकर स्वस्वरूप में विचरण होने लगता है। ऐसी प्रक्रिया होने से सदा को निराकुलता हो जाती है इसी का नाम सच्चा सुख है, ऐसा सुख अक्षय होता है, अनंत होता है, पर निरपेक्ष तथा स्वाश्रित होता है। ऐसे सुख की ही वाञ्छा करनी चाहिये।

पर पदार्थ एक तो अपनी इच्छानुसार मिलते ही नहीं है क्योंकि उनका संयोग तो उपार्जित पुण्य कर्म के उदायानुसार ही होता है। पुण्य कर्म की पूर्णता तो निरपेक्ष केवल भगवान के ही होती है, सामान्य मोही संसारी प्राणियों के तो खरड २ ही पाया जाता है। इसी से भावना के अनुसार पदार्थों का यथेच्छ संयोग होता भी नहीं है, जितने का होता है वह भी हमेशा नहीं रहता है। उसका अंत नियम से होता है। पर पदार्थ का संयोग उत्कर्ष नहीं करता प्रत्युत अक्षय पतन ही करता है। इसीलिथे तो हमारे पूज्य आचार्यों ने एक स्वात्मा के सिवाय बाकी सब पदार्थों को हेय बनलाया है। हमारे माननीय ग्रंथ प्रणीताने इसी रहस्य को हर एक व्याख्यान में खूब स्पष्ट किया है। जो मध्य इस ग्रन्थ का मनन पूर्वक शुद्ध चित्त से स्वाध्याय करेंगे उनका उपयोग बहुत ही निर्मल होगा।

इस ग्रंथ के साथ ही महाराज के द्वारा रचित सहजानंद गेता का भी पाठ लगा दिया गया है ये मूलश्लोक पाठ है इसके ७ अध्याय है हर एक अध्याय में वषय भिन्न २ है

तारीफ ये रखी गई है कि हर एक श्लोक के विषय का संबंध प्रत्येक श्लोक के चौथे चरण से रखा गया है। ऐसी विशेषता बहुत कम ग्रन्थों में देखने को मिली है। इस गीता की ये हिंदी टीका खुद महाराज ने ही अन्वयार्थ के साथ की है जिससे श्लोकों के रहस्य को समझने में बड़ी सरलता हो गई है। सटीक गीता बाद में छपेगी। गीता में अभ्यात्मतत्त्व ही भरा हुआ है, जो संस्कृत के जानकार विद्वान हैं वे गीता के रहस्य को ठीक २ समझ सकते हैं। कविता में लालित्य अच्छा है। अनुपास, अलंकार आदि से भी सुशोभित है। इस प्रकार महाराज के द्वारा रचित ग्रन्थों में इस चौथे ग्रन्थ के प्रथम खंड को पाठकों के हाथ में समर्पण करते हुए परम हर्ष हो रहा है। इसके संशोधन और सम्पादन करने में पूर्ण सावधानी रखी गई है फिर भी कई कारणों के साथ मेरा प्रभाद और अज्ञान भी एक कारण हो सकता है जिससे कहीं २ कोई संशोधन संबंधी त्रुटि रह गई हो तो पाठकवृन्द क्षमा करें और सुधार कर पढ़ें तथा शास्त्रमाला के कार्यालय को सूचित करते रहें ताकि आगे के एडिशन में उनका सुधार कर दिया जाय। इत्यलम्।

बी. नि. सं. २४७६
कार्तिक सुदी १५
इन्दौर।

समाज का अनुचर
मुन्नालाल जैन का. ती

प्रस्तावना

प्रकृत पुस्तक का नाम “तत्त्व रहस्य” है। तत्त्व शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार तत् शब्द से भाव अर्थ में त्व प्रत्यय करने से बनता है। तत् शब्द से क्या लेना और भाव शब्द का क्या अर्थ है, ये दोनों ही बातें तत्त्वज्ञानियों के सामने अब तक भी रहस्य मय बनी हुई हैं। कितने ही ज्ञानियों का कहना है कि तदिति एसा प्रकृतिः सामान्याभिवायिनी सर्वनामत्वात् सर्वनाम (सर्वेषां नाम इति सर्वनाम) च सामान्ये वर्तते कथनस्य तात्पर्यमिदं यत् “तत्” शब्देन सर्वेषामर्थानां (ये यथा अवस्थिता व्यवस्थिता वा तेषाम्) गृहणम् तेषां भावः तत्त्वम् वे समस्त ही पदार्थ कैसी अवस्था व व्यवस्था को लिये हुए हैं इसका सर्व सम्मत एक जवाब आज तक भी नहीं बात हो सका है ! कितने ही ज्ञानियों की दृष्टि में जगत् के दृश्यमान पदार्थ सब मायिक हैं अविद्या कल्चित हैं, भ्रूटे हैं, अपरमार्थ हैं। एक मात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत् पदार्थ है। कितने ही दार्शनिकों ने बतलाया है कि न हम सत्यार्थ हैं न तुम सत्यार्थ हो न कोई भी सत्यार्थ है सब संवृतिमात्र हैं कल्पना मात्र हैं। कितने ही योगियों ने बतलाया है कि यद्यपि चेतन पुरुष तत्त्व अनेक हैं परन्तु वे सब कूटस्थ नित्य अपरिणामी हैं। हां सारे जगत् की एकमात्र कर्त्री प्रकृति है जो नित्य सर्वगत अरूपी निरनुयोज्य है। उस ही का किया हुआ वह सारा अंतर्जगत एवं बाह्य जगत् है। कितने ही बुद्धिमानों ने बतलाया है कि (हमें अन्य बातों से जानने का कोई प्रयोजन

नहीं हमें तो देखना यह है) इस संसार में एक २ प्रदेशवाले अनित्य जुदे २ असाधारण स्वरूप को लिये हुए अनमिल अनन्ते परमाणु ही पदार्थ हैं उन सबों से मिलकर स्थिर स्थूल-साधारणाकार घटपटादि एवं गाय भैंस बैल मनुष्य आदि अवयवी पदार्थ दीखते हैं वे कल्याणा शिल्पिकल्पित हैं परमार्थ सत् पदार्थ नहीं ।

परन्तु तत्त्व दर्शी जैन तीर्थंकरों ने बतलाया है कि लोक में पाये जाने वाले समस्त ही मौलिक पदार्थ दो भागों में विभक्त हैं । एक चेतन दूसरे अचेतन, चेतन पदार्थ भी अपनी २ सत्ता में प्रतिष्ठित अनन्ते हैं और अचेतन (युग्मल आदि) पदार्थ भी परमाणु स्कन्ध के भेदों में विभक्त हो अनन्ते रूपों में पाये जाते हैं । चेतन पदार्थों में अनन्ते ही आत्माएँ अनादि से मोह राग द्वेष काम क्रोधादि से मलिन होते हुए विविध आकार वाले शरीरों को धारण कर जगत् में परित्रयण कर रहे हैं और अपने २ परिणामों वृत्ति में के अनुसार सुर असुर नारकीय पाशविक जीवन को व्यंतीत कर अशांत एवं श्रांत हो रहे हैं । विशिष्ट पुण्योद्भय से कदाचित् मनुष्य शरीर को भी पाते परन्तु वहाँ पर भी प्रायः प्राकृतिक जन वैकल्पिक एवं आवश्यक सुबुद्धायी पदार्थों के संवय करने में लगे रहने के कारण तत्त्व रहस्य को जानने के लिये प्रयत्न नहीं करते । जो सच्चे अर्थ में (यत्नशील) मानव हैं वे वस्तु और तत्त्व को जानने के लिये प्रयत्न भी करते हैं परन्तु सर्वगो पूर्ण रूप से वस्तु को जानने के लिये निरुपाय हो तत्त्व रहस्य जानने में असमर्थ ही रहते हैं । याथार्थ्य यह है कि मौलिक तत्वों और उनकी अवस्थाओं का परिज्ञान “प्रमाण नयै रधिगमः” प्रमाण तथानयों से होता है । प्रमाणज्ञान वह तत्त्वज्ञान कहलाता है जो बिना किसी की सहायता के एक ही साथ समस्त पदार्थों का प्रतिभास

करावे । नय वे हैं जो वस्तु के अंशो काक्रम से ज्ञान कराने वाले हैं । नयों में समीचीन नय वे ही कहलाते हैं जो अपने विवक्षित अंश का ज्ञान करा कर भी अविवक्षित अंश का खंडन न करे प्रत्युत अपनी विद्यज्ञा के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए बतलावे । अस्तु प्रत्येक ही मौलिक द्रव्य स्वतः सिद्ध सत् होते हुए भी प्रतिसमय परिणमनशील रहते हैं । वह परिणमन जब इकहरी अवस्था में होते हैं तब शुद्ध परिणमन कहलाता है और जब पर के संयोग सहयोग या अपेक्षा तथा आलंबन से होते हैं तब अशुद्ध कहलाता है । प्रत्येक मौलिक द्रव्य की तरह जब यह आत्म तत्व भी जोड़ तोड़ से रहित अपने आप में एक होता हुआ परिणमता है तब ही सत्यं-शिवं-सुन्दरम् जंचता है जैसा कि महर्षि कुंदकुंदाचार्य ने समयसार में कहा है कि “एयत्तणिच्यगओ समओ सज्जथ सुन्दरोलोए-एयत्तस्सु-चलंभोणवरिण सुलहो विहत्तस्सतं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्यणो सविहवेण । प्रत्येक वस्तु की वस्तुता इसी में है कि वह स्वरूप का ग्रहण तथा परात्मा का अपोह करते हुए सदा काल व्यवस्थित रहे । इसमें स्वरूप की ओर लेजाने वाले नयों को निश्चयनय और पर स्वरूप से हटाने वाले नयों को व्यवहार नय कहते हैं । इतना ही नहीं प्रत्युत परस्पर विरुद्ध जैसे जंचने वाले सामान्य-विशेष, अमेद भेद, द्रव्य पययि, आदि धर्मों में से पहिले धर्मों को कहने वाले नयों को द्रव्यार्थिक नय और बाद के धर्मों को कहने वाले नयों को पर्यायार्थिक नय कहते हैं ।

इस प्रकार के २७ नय युगलों के द्वारा लुल्लक मनोहर जी वर्णी (सहजानंद जी महाराज) ने स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रवेश करते हुए तत्त्व रहस्य समझाने का प्रयत्न किया है जो अत्यंत सराहनीय है ऐसे ही विचारों में रह अंत में वे स्वयं भी शांति और आनंद का अनुभव करते हैं और आशा है कि अन्य भव्य जन भी निराकुलता का स्वाद प्राप्त कर सकें हैं।

वंशीधर जैन

प्रधानाध्यापक सर स. सु. दि. जैन महाविद्यालय
जंघरी बाग-इन्दौर

प्रकाशकके दो शब्द

प्रिय पाठकवृन्द' हमें इस बातका परमहर्ष है कि जिन ग्रन्थोंका प्रकाशन आवश्यक अनुभव हो रहा था अब वे ग्रन्थ क्रमशः प्रकाशनमें आने प्रारम्भ हो गये हैं, इस सबका श्रेय हमारे साहित्य प्रेमी प्रवर्तक महानुभावों को है। जिस संस्था-से ये ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं उसकी स्थापना हुए अभी १। वर्ष ही हुआ है। प्रारम्भ होनेसे पहिले श्रीमान ला. महावीर प्रसादजी बैंकर्स सदर मेरठने स्वयं सत्सङ्गके निवासपर आकर इस बातका अनुभव किया और स्वयं १०००) रुपया लाकर हमें दिये और कहा कि महाराजश्रीके ग्रन्थोंका प्रकाशन शुरु कीजियेगा, उसके लिए यह हमारी भेंट है। उस ही दिन इस शास्त्रमालाकी स्थापना हुई और कार्य प्रारम्भ किया गया, इसकी ओरसे अब तक ३ प्रकाशन हो चुके हैं यह ४ था प्रकाशन है। पूज्य श्री १०५ बुल्लक मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराजने यह तत्त्व-रहस्य ग्रन्थ बड़े तत्त्वविचार से निर्माण किया है इसमें प्रत्येक विषयोंका निश्चय व्यवहार को घटाकर उनका रहस्य बताया है।

इसवर्ष चातुर्मास इन्दौरमें हो रहा है, श्रीमान् अनेक पदविभूषित रावराजा श्रीमन्त सेठ सर श्री हुकमचन्दजी सा० नाइटने अनेक बार पत्रों द्वारा आग्रह करके पूज्य श्री १०५ बुल्लक मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराजका इन्दौरके लिए स्वीकृति प्राप्त की, तथा लेनेकेलिये इन्दौरसे भेजे हुए भाईके उत्तरश्रान्तसे आनेमें समाजद्वारा अनेक रुकावट

होने पर भी सर सेठ सा. को ओरसे किये गये निवेदनने इन्दौर पहुँचा ही लिया । इस कार्यमें श्रीमान् ब्र. छोटे-लालजी महाराज व श्री भगत सुमेरचन्द्रजी वर्णीका सर सेठ सा. को बहुत सहयोग प्राप्त हुआ । यहाँ जैन समाजके धुरन्धर कितने ही विद्वान निवास करते हैं उनमेंसे श्रीमान प. बंशीधरजी न्यायालंकार व श्रीमान पं. नाथूलालजी शास्त्री; श्रीमान पं. मुञ्जालालजी धर्मरत्न काव्यतीर्थ, श्रीमान प. कुन्दलालजी न्यायतीर्थ, श्रीमान पं० धन्यकुमारजी एम. ए. जैनदर्शनाचार्य आदि विद्वानोंने पूज्य श्री महाराजजी द्वारा रचित ग्रंथोंका समवलोकन किया, सभी विद्वानोंने इन ग्रंथोंकी महती सराहना करके इनके प्रकाशनके लिए मुझे उत्साह दिया, एवं श्री सर सेठ रावराजा हुकमचन्दजी सा. ने तो आत्मसम्बोधन ग्रन्थके पूर्ण स्वाध्यायके बाद ग्रन्थों और इस शास्त्रमालाकी बड़ी सराहना करके कहा—कि इन ग्रन्थोंका प्रकाशन बहुत जरूरी है, और समाजको इन ग्रन्थों का प्रकाशन करने वाली इस शास्त्रमालाको हर प्रकारका पूरा सहयोग देना चाहिये ।

कुछ बाधाओंके उपस्थित होनेके कारण मेरठ से ३०००) का तथा मुजफ्फरनगर से ११००) का डाफ्ट इन्दौर पहुँचने पर भी ग्रंथ प्रकाशनके कार्यको पहिलेसे न कर सके अब असीज सुदी ८ से सहजानंदगीता, जीवस्थानचर्चाकी प्रेस कापी उपस्थित होने पर भी समयकी कमीके कारण इस तत्त्वरहस्य ग्रन्थको ही प्रकाशित करा सका हूँ, इसकी आगेकी प्रेसकापी न हो सकनेसे इस ग्रन्थके २२४ विषयों में से २७ विषयोंका ही प्रकाशन हुआ है । तथा अनेक भाइयों का सहजानंदगीताके प्रकाशनका बहुत आग्रह होनेसे मूलग्रंथोंका का पाठ भी इसमें प्रकाशित कर दिया है ।

यह “सहजानंदगीता” इटावासे फिरोजाबाद अपने गुरु पूज्य श्री १०५ क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी “न्यायाचार्य” के साथ बिहार करते समय पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहरजी वर्णी न्यायतीर्थ “सहजानंद” महाराज ने बनाई है। एक दिन में १५ श्लोकों का निर्माण किया और १५ दिन में यह गीता बना ली। इन दोनों ग्रंथोंका सम्पादन श्रीमान प्रतिष्ठा दिवाकर धर्मभूषण पं. मुन्नालालजी काव्यतीर्थ प्रतिष्ठाचार्य इन्दौर ने अपने वा सामाजिक अनेक कार्योंके होते हुए भी अपना अमूल्य समय देकर आन्तरेरी तोरसे किया है इस के लिए मैं उनको अनेक धन्यवाद देता हुवा उनका अत्यंत आभारी हूं। तथा इस ग्रंथके प्रस्तावना लेखक समाजके सुप्रसिद्ध विद्वान सिद्धान्त महोदधि पं. बंशीधरजी न्यायालंकार प्रधानाध्यापक स. हु. संस्कृत महाविद्यालय इन्दौर के भी हम अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने मेरे निवेदन को स्वीकार कर अपने अमूल्य समय को व्ययकर इस ग्रंथकी प्रस्तावना लिखी है। एवं पं. कुन्दलालजी न्यायतीर्थका भी हम आभार मानते हैं जिन्होंने पूज्य महाराजजीका आद्योपान्त्य जीवनचरित्र लिख दिया है।

श्रीमान सर सेठ सा. व जैन समाज इन्दौरको भी धन्यवाद है जिसकी सद्भावनाओं से हम कार्य को कर सका हूं।

इस समय मैं श्रीमान ब्र. छोटेलालजी महाराजको नहीं भूल सकता जिन्होंने पूज्य श्री “सहजानन्द” महाराजके साथ ४ माह रहकर बड़ी प्रसन्नतासे धर्म साधन करते हुए सहजानंदगीताको जल्दीसे जल्दी प्रकाशित होनेकी बार बार प्रेरणा की है और महाराजजीको इसका अन्वय अर्थ कर देनेको बाध्य किया, उनकी सत्प्रेरणा से महाराजजीने अनेक

कार्यों के होने पर भी करीब २० दिनमें अन्वय ग्रंथ कर दिया है इसकी प्रशंसा भी बनी हुई रखी है।

जिन जिन महाशयों ने इस शास्त्र गाथाको आर्थिक सहायता प्रदान की है उन सबके लिए धन्यवाद ! क्योंकि उन के इस सहयोग के बिना ग्रंथोंका प्रकाशन असंभव था, उन में से प्रवर्तक महानुभावों के नाम इस ग्रंथ में उल्लिखित हैं।

श्रीमान डाक्टर सा. जयप्रकाशजी जैन साहिया (देहरादून) वाले अनेक धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने साहित्य प्रमवश इस सहजानंद शास्त्र गाथाके किसी किसी ग्रंथके मूल्य कम करने के लिए ५००) प्रतिवर्ष आजीवन प्रदान किये हैं, गतवर्ष का ५००) प्राप्त हो चुका है जिससे आत्म संबोधन या सहजानंदगीता सार्थ जिनका कि अब २ माहवाद प्रकाशित होना प्रारम्भ होगा, उसकी लागत में ५००) कम करके मूल्य निर्धारित होगा।

वर्तमानमें इसके सहायक सदस्य जिनका रुपया संस्था में आचुका है निम्नप्रकार है।

१. श्री महावारप्रसादजी बेकर्स सदरमेरठ १०००)
२. " ला. मित्रसेन नाहरसिंहजी जैन, मुजफ्फरनगर १०००)
३. " " प्रेमचन्द ओमप्रकाशजी जैन प्रेमपुरी मेरठ १०००)
४. " " सले बचन्द लालचन्दजी जैन, मुजफ्फरनगर ११००)
५. " " कृष्णचन्दजी जैन रईस देहरादून ११११)
६. " " दीपचंद्रजी जैन रईस देहरादून १०००)
७. " " वारुमल प्रेमचन्दजी रईस मंसूरी ११००)
८. " " मुरारीलालजी बाबूगामजी बवालापुर १०००)
९. " " चौ. चिमनलालजी जैन देहरादून २५०)

१०. श्रीमन् पिर्थोसिंहजी जैन देहरादून २५०)
११. " ; जिनेश्वरदासजी जैन सराफ देहरादून २५०)
१२. श्रीमती धर्मरत्नी वा० जैनबहादूर जैन देहरादून २५०)
१३ श्रीमान् रतनलालजी सेठी दीतवारिखा इन्दौर २५०)
१४. " " हीरालाल माणिकचंदजी जैन लुहारदा २५०)

उक्त सहायक महानुभावों के अतिरिक्त निम्नलिखित सह नुभाव और हैं जिन्होंने अपने सदस्य होनेकी स्वीकृति दी और निम्नलिखित सहायता प्रदान की। यह रूपया अभी उन्हीके यहां जमा है जिन्हें प्रकाशन कार्य प्रारम्भ होते ही भेज देनेको कह दिया है।

१. श्री ला. सेठ शीतलदासजी जैन सदरमेरठ १०००)
२. ; " गेंदालाल पूनासा सनावद १०००)
३. " " उग्रसेन केवलरामजी जैन जगादरी १०००)
४. " ; जिनेश्वरलालजी जैन शिमला १०००)
५. " " निमलकुमारजी जैन शिमला १०००)

उक्त सभी सदस्य धन्यवादके पात्र हैं। अन्तमें हम पूज्य श्री १०५ क्षु. गणेशप्रसादजी वणी और उनके पट्ट शिष्य इस ग्रंथके लेखक पूज्य श्री १०५ क्षु. मनोहरजी वणी "सह-जानंद" महाराजका बहुत बहुत आभार मानते हैं जिनके प्रसादसे हम अपने धर्मध्यानमें सानन्द समय बिताते हुए अपना जीवन सफल कर रहे हैं।

प्रकाशक—

२
आनन्दप्रकाश जैन

B. Com. L. L. B.

१
ब्र. जीवानंद जैन
अध्यक्ष

कोठी नं. २०१ सदर मेरठ
मन्नी.

सहजानंद शास्त्रमाला

Report any errors at vikashn@gmail.com

(१४)

इस तत्त्वरहस्य ग्रंथमें सम्प्रति २२४ विषय हैं जिससे कि यह ग्रंथ ५ भागोंमें प्रकाशित होगा अतः पाठकोंकी जानकारीके अर्थ तत्त्वरहस्यके सर्व विषयोंकी सूची प्रकाशित की जा रही है

तत्त्वरहस्यके विषयोंकी सूची

विषयक्रम

विषय

- १ मंगलाचरण
- २ निश्चय—व्यवहार
- ३ स्वार्थप्रयास—परार्थप्रयास
- ४ अध्यात्म—आगम
- ५ सहनय—उपचार
- ६ उपचरितसद्भूतव्यवहारनय—उपचरित असद्भूत व्यवहारनय
- ७ अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय—अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय
- ८ अक्षय—संधिविग्रह
- ९ केवल—उपचार
- १० द्व्यर्थिक—पर्यायार्थिक
- ११ निरपेक्ष—सापेक्ष
- १२ स्वाश्रित—पराश्रित
- १३ भूतार्थ—अभूतार्थ
- १४ परमार्थ—अपरमार्थ
- १५ निरंश—सांश
- १६ शुद्ध—अशुद्ध
- १७ उपादान—निमित्त

- १८ अमेद—मेद
१९ अवाच्य—वाच्य
२० मति—श्रुत
२१ निगम—आगम
२२ एक—अनेक
२३ गुणी—गुण
२४ गुण—पर्याय
२५ नेति—विधि
२६ निरुपाधि—सोपाधि
२७ तत्—अतत्
२८ स्वद्रव्यविधि—परद्रव्यप्रतिषेध
२९ स्वक्षेत्रविधि—परक्षेत्रप्रतिषेध
३० स्वकालविधि—परकालप्रतिषेध
३१ स्वभावविधि—परभावप्रतिषेध
३२ सत्—असत्
३३ एकत्व—विभक्त
३४ साध्य—साधक
३५ वहिरात्मा—मिथ्यात्व
३६ वस्तुस्वभावज्ञातिसिद्धि—सम्यग्भाव
३७ परमात्मा—शुद्धोपयोगपरिणति
३८ निश्चयरत्नत्रय—व्यवहाररत्नत्रय
३९ चारित्रशक्तिमुख्यभवन—विरतिव्यवहारपरिणति
४० विषकषायविरतिमनःस्थिरता—देवशास्त्रगुरुभक्ति
४१ परम्पटामोक्ष—शुभोपयोग
४२ परमात्मा—अन्तरात्मा
४३ अमेदज्ञानादिगुण—मोक्षमार्गरूपज्ञानादिगुण

(१६)

- ४४ उत्कृष्टज्ञानादिभाव-जगन्मयज्ञानादिभाव
- ४५ बहुलनिश्चयपरिणति-स्तोकनिश्चयपरिणति
- ४६ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-सम्यक्त्वो जीव
- ४७ द्रव्यमोक्ष=गुणमोक्ष
- ४८ तद्भवसाक्षात्तमोक्ष-त्रयकश्रेणि
- ४९ साक्षात्तमोक्ष-द्रव्यभावयतिव्यवहार
- ५० साक्षात्परमात्मरूपकेवलभवन-भाषितमनविकारविलय
- ५१ चिद्धि कारित्रितय-पौद्गलिककर्मक्षरण
- ५२ समताभाव-परिश्रममात्रपरमाणुप्रपञ्च
- ५३ संसारभ्रमण-मिथ्यादृष्टिभवन
- ५४ मोक्षपदभवन-सम्यग्दृष्टिभवन
- ५५ द्रव्यतथाभवन-काललब्धिभवन
- ५६ स्वरूपसाध्य-स्वभावसाध्य
- ५७ अर्थ-शब्द
- ५८ ज्ञानरस-अर्थ
- ५९ ध्यान-स्थिरता
- ६० कर्मक्षरण-ध्यान
- ६१ द्रव्यमोक्ष-कर्मक्षरण
- ६२ संसाराभाव-रागद्वेषमोहाभाव
- ६३ परमपद-धर्म
- ६४ अनाकुलभाव-स्वविचारप्रतीति
- ६५ निजशुद्धस्वरूप-समाधि
- ६६ यथार्थपदार्थसिद्धि-स्याद्वाद
- ६७ विशुद्धज्ञानकला-श्रेयोभावना
- ६८ निजपरमात्मा-विशुद्धज्ञानकला
- ६९ कार्य-विवेक
- ७० शुक्लध्यान-धर्मध्यान

- ७१ मोक्षभाव—शुक्लध्यान
- ७२ शुद्धोपयोग—चिद्विकाराभाव
- ७३ भावश्रुत—द्रव्यश्रुतसम्यग्वाहन
- ७४ केवलज्ञान—भावश्रुत
- ७५ अनुभव—चेतनचित्तलोन
- ७६ मोक्ष—अनुभव
- ७७ प्रमाणभंगी—नयभंगी
- ७८ वस्तुसिद्धि—प्रमाणभंगी
- ७९ श्रद्धागुणज्ञता—शास्त्रसम्यक्वाहन
- ८० परमार्थप्राप्ति—श्रद्धागुण
- ८१ आत्महित—यतिजनसेवा
- ८२ विद्यालाभ—विनय
- ८३ निश्चयसम्यक्त्व—तत्त्वश्रद्धान
- ८४ तत्त्वप्राप्ति—देवशास्त्रगुरुप्रतीति
- ८५ संसारखेददूरीकरण—तत्त्वामृतपान
- ८६ संसारखेदविनाश—मोक्षमार्ग
- ८७ मोक्ष—मोक्षमार्ग
- ८८ मनोविकारविलय—ध्यान
- ८९ ध्यानसिद्धि—ध्यानाभ्यास
- ९० शास्त्रतात्पर्य—सूत्रतात्पर्य
- ९१ निश्चयपदप्राप्ति—नियम
- ९२ न्यायस्थापना—नयप्रमाणनिक्षेप
- ९३ निर्विकल्पनिजरसपान—सम्यक्प्रकारहेयोपादेयज्ञान
- ९४ निजवस्तुप्राप्ति—परवस्तुविरक्तता
- ९५ शुभाशुभमूढता—गुरुमूढता
- ९६ आत्मात्ममूढता—देवमूढता

(१८)

- ६७ द्रव्यगुणपर्यायमूढता—लोकमूढता
६८ उपेय—उपाय
६९ स्वभाव-विभाग
१०० नित्य—अनित्य
१०१ कारण—कार्य
१०२ सामान्य-विशेष
१०३ शक्ति—व्यक्ति
१०४ आभावाद्वैत-माया
१०५ अखंड-खंड
१०६ द्रव्य-अंश
१०७ ब्रह्माद्वैत—आराम
१०८ संबेदनाद्वैत-विभ्रम
१०९ चित्राद्वैत—विचित्र
११० एकं ब्रह्म—मैथुनमब्रह्म
१११ एकान्त-विपरीत
११२ प्रशम-संवेग
११३ संशय-वैतनिक
११४ आस्तिक्य-अनुकंपा
११५ सत्य असत्य (असति भवः)
११६ परमसमाधि—विकल्प
११७ अकर्तृत्व—कर्तृत्व
११८ रागादिकर्तृत्व—कर्मकर्तृत्व
११९ स्वपरिणामकर्तृत्व—रागादिकर्तृत्व
१२० अभोक्तृत्व—भोक्तृत्व
१२१ स्वपरिणामभोक्तृत्व—रागादिभोक्तृत्व
१२२ रागादिभोक्तृत्व—कर्मभोक्तृत्व

- १२३ ध्येयरूप-ध्यान
१२४ अखंडज्ञान-अखंडप्रतिभासी खंडज्ञान
१२५ शुद्धपारिणामिक-शुद्धपारिणामिकव्यक्ति
१२६ प्रत्यक्ष-परोक्ष
१२७ निसर्ग-अधिगम
१२८ शुद्धात्मपरिणति-पञ्चपरमेष्ठिभक्ति
१२९ आत्मज्ञ-सर्वज्ञ
१३० स्वपर्याय-व्यंजनपर्याय
१३१ स्वरूप-स्वभाव
१३२ साधकतम-अ-प्रयोजन
१३३ अव्यपदेश्य-व्यपदेश्य
१३४ अव्यक्त-व्यक्त
१३५ असंयुक्त-संयुक्त
१३६ अविशेष-विशेष
१३७ अनन्य-अन्य
१३८ स्वसंवेदन-अ-स्वसंवेदन
१३९ स्वसंचेतन-स्वसंवेदन •
१४० सचेतन-स्वसंचेतन
१४१ तत्त्वबोध-समयाख्याम
१४२ स्वस्थता-तत्त्वबोध
१४३ उपादेय-हेय
१४४ अध्यात्मव्यसन-क्रियाव्यसन
१४५ पुण्यपापजयपराजय-द्युतक्रीडा
१४६ देहमग्नता-आमिषभक्षण
१४७ आत्मविभ्रम-मदिरापान
१४८ भावप्राणहनन-आखेट

(२०)

- १४६ कुबुद्धिपथगमन-वैश्यागमन
१४७ अनात्मग्रहण-चौर्य
१४८ परदेहवृत्ति-परस्त्रीसेवन
१४९ निश्चयसम्पत्तवगुण-व्यवहारसम्पत्तवगुण
१५० सप्तभयशंकारहितता-जिनवचननिःशंकता
१५१ इन्द्रियविषयसुखनिःकांक्षा-परवस्तुनिःकांक्षा
१५२ आत्ममङ्गलनिर्विचिकित्सा-अपवित्रवस्तुनिर्विचिकित्सा
१५३ शुद्धात्मनिर्मूढता-कापथनिर्मूढता
१५४ विभावधर्मोपगूहन-अशक्तकृतनिन्दोपगूहन
१५५ शुद्धस्वरूपोपवृत्तहण-व्यवहारमोक्षमार्गोपवृत्तहण
१५६ शिवमार्गस्वस्थितिकरण शिवमार्गपरस्थितिकरण
१५७ स्वरत्नत्रयवत्सलता सहधर्मिबत्सलता
१५८ आत्मज्ञानविकास-व्यवहारमोक्षमार्गोद्योत
१५९ निजोदितरत्न-रुद्धरत्न
१६० सुबुद्धि-लक्ष्मी
१६१ अनुभूति-कौस्तुभमणि
१६२ वैराग्य-कल्पवृक्ष
१६३ सुवचन-संख
१६४ उद्यम-पेरावत
१६५ प्रतीति-रंभा
१६६ उदय-विष
१६७ निर्जरा-कामधेनु
१६८ आनन्द-अमृत
१६९ ध्यान-धनुष
१७० प्रेम-मदिरा
१७१ विवेक-वैद्य

- १७५ शुद्धभाव-चंद्रमा
१७६ मन-तुरंग
१७७ निजरस-नाटकरस
१७८ ज्ञानभूषणविचार-श्रृङ्गार
१७९ कर्मनिर्जरोक्षम-वीर
१८० आत्मवत्सर्वभूतमनन-करुणा
१८१ स्वानुभवोत्साह-हास्य
१८२ कर्मविनाश-रौद्र
१८३ देहाशुचिचिन्तन-वीभत्स
१८४ आत्मशक्तिचिन्तन-अद्भुत
१८५ दृढ़वैराग्यधारण-शान्त
१८६ जन्मादिदुःखचिन्तन-भयानक
१८७ अध्यात्मतप-बाह्यतप
१८८ अनशनस्वभावभावना-अशनत्याग
१८९ अल्पभोजनसंतोषभाव-ऊनोदर
१९० ज्ञानमात्रनिवास-विविक्तशय्यासन
१९१ आहारलाभाभावभावना-व्रतपरिसंख्यान
१९२ इन्द्रियविषयरसत्याग-रसत्याग
१९३ कायोपेक्षाभाव-कायक्लेश
१९४ अकार्यभावना-प्रायश्चित्त
१९५ अनुवृत्तिभाव-विनय
१९६ खेददूरीकरणभाव-वैयावृत्त
१९७ स्वरूपावधारण-स्वाध्याय
१९८ ज्ञानमात्रभवन-ध्यान
१९९ कायनिर्ममत्व-कायोत्सर्ग
२०० चैतन्यवंशपावनस्वयंपुत्र-अंगजपुत्र

- २०१ विशुद्धपरिणामजनकस्वयंजनक-जनक
 २०२ स्वधर्मसमुदायसहवासीस्वयंबन्धु-बन्धु
 २०३ अभीष्टज्ञापकस्वयंगुरु-गुरु
 २०४ हितप्रयोक्तास्वयंआचार्य-आचार्य
 २०५ प्रतिबोध्यस्वयंशिष्य-शिष्य
 २०६ स्वप्रदेशगृह-गृह
 २०७ ज्ञानधन-धन
 २०८ स्वयं दर्शनबाधकरागादिनिवारणभावनिःसहि-जिन-
 दर्शनसम्मुखस्थनिवारणभावनिःसहि
 २०९ स्वस्थानप्रवेशभावना-भूताधिष्ठितस्थानप्रवेशज्ञा
 २१० आत्मरतिहेतुनिष्फल-उदयागतिसूचकआसहि-स्वस्था-
 नगतिहेतु-अतंत्रतादायकआसहि
 २११ ध्यानविचलितपरिणामदूरीकरणक्षमा-
 धावना
 २१२ परिणामपरिणामिभाव-निमित्तनैमित्तिकभाव
 २१३ अहिंसाधर्म-दयाधर्म
 २१४ प्रमत्तयोग प्राणिपीडा (हिंसा)
 २१५ अनात्मवार्ता-दुःखदवाक्य (असत्य)
 २१६ अनात्मग्रहण-परग्रहण (चौर्य)
 २१७ स्वभावच्युति-स्त्रीगमन (कुशील)
 २१८ मूर्च्छा-वाह्यवस्तु (परिग्रह)
 २१९ वीतरागपूजा-देवपूजा
 २२० रत्नत्रयोपास्ति-गुरुपास्ति
 २२१ स्वज्ञप्ति-स्वाध्याय
 २२२ स्वसंयमन-इन्द्रियप्राणिसंयम
 २२३ निरीहता-तप
 २२४ परभावत्याग-दान

तत्त्व रहस्य [प्रथम भाग] की विषयानुक्रमणिका

०००००००००

विषयक्रम	विषय	पृष्ठ
१	मंगलाचरण	१
२	निश्चय—व्यवहार	५
३	स्वार्थप्रयास-परार्थ प्रयास	७
४	अध्यात्म—आगम	६
५	सप्तनय—उपचार	११
६	उपचरितसद्भूतव्यवहारनय—	
	उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय	१३
७	अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय—	
	अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय	१६
८	अचय—संधिविग्रह	१८
९	केवल—उपचार	२०
१०	द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिक	२२
११	निरपेक्ष—सापेक्ष	२४
१२	स्वाश्रित—पराश्रित	२६
१३	भूतार्थ—अभूतार्थ	२८
१४	परमार्थ—अपरमार्थ	३०
१५	निरंश—सांश	३२
१६	शुद्ध—अशुद्ध	३४
१७	उपादाउ-निमित्त	३६
१८	अमेद—मेद	३८
१९	अवाच्य—वाच्य	४०

२०	मति—भ्रुत	४२
२१	निगम—आगम	४४
२२	एक—अनेक	४६
२३	गुण—पर्याय	४८
२४	गुणी—गुण	५०
२५	नेति—विधि	५२
२६	निरुपाधि—सोपाधि	५५
२७	तत्—अतत्	५८





॥ नमः सिद्धाय ॥

अध्यात्म योगी शान्तिमूर्ति न्यायतार्थ
पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'सहजानंद'
महाराज द्वारा विरचित

तत्त्व रहस्य [प्रथम भाग]

(१)

मंगलाचरणम्

वन्दे स्वभाव्यभाविन्या निश्चयेनाचयाचयम् ।

ईशं कायमनोवाग्भिर्व्यवहृत्या चयाचयम् ॥

अन्वयः— निश्चयेन अचयाचयं ईशं-परमात्मतत्त्वं स्व-
भाव्यभाविन्या परिणत्या अहं वन्दे । व्यवहृत्या चयाचयं
ईशं-परमात्मरूपं कायमनोवाग्भिः वन्दे ।

अर्थः— निश्चयनयसे जो न चयस्वरूप है और न
अचयस्वरूप है ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वको, स्व ही जहां
भाव्य है और स्व ही जहां भावक है, ऐसी निज परिणति
के द्वारा मैं नमस्कार करता हूँ, तथा व्यवहारनयसे जो

चय और अचय दोनों रूप हैं ऐसे परमात्माको या परमात्मस्वरूपको शरीर मन और वषणोंके द्वारा नमस्कार करता हूँ ।

तात्पर्यः—शुद्ध आत्मतत्त्वको निश्चयनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह स्वयं अखण्ड, परिपूर्ण, स्वतन्त्र, परके लेशसे रहित, अविनाशी है, उसमें कोई चय (संग्रह) नहीं है अर्थात् उसमें ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको आघेष बताना विकल्परूप होनेसे शुद्ध निश्चय नयमें नहीं है । और इसी प्रकार अचय (अचयसे भाव यहां तोड़का है) भी एक विकल्प है, अर्थात् उस पिण्डीभूत तत्त्वमेंसे कोई गुण प्रथक् करके वर्णन करना भी शुद्ध निश्चयनयमें नहीं है । इसलिये निश्चय नयसे जो तत्त्व चय अचय दोनों विकल्पोंसे रहित है उसे निज भाव्यभावकभावसे नमस्कार किया है । यहां शुद्धतत्त्वका शुद्ध नमस्कार बताया है । वह तत्त्व जहां निजमें भाव्य अर्थात् होने योग्य और भावक अर्थात् हुवाने वाला होता है-याने जहां द्वेषाभाव नहीं है वही भाव आराध्य है और वही भाव आराधक है । इस भावसे-इस परिणतिसे, यहां नमस्कार किया है, इसे भाव नमस्कार कहते हैं । निश्चयनयकी दृष्टिसे यह ही तात्त्विक नमस्कार है । जहां स्वरूपाचरण हो जाता है वहां द्वेषीभाव या विकल्प नहीं होता है परन्तु स्वयं परि-

पूर्ण, अखंड, स्वतंत्र, अपनेमें एक, अन्य सर्व पदार्थोंसे विविक्तका अनुभव होता है ।

अब उस परमात्मस्वरूपको विचारा जाय तो वह स्वरूप चय और अचय दोनों करके सहित है । यहाँ व्यवहारदृष्टिसे तत्त्वकी खोज है, उसमें क्या क्या गुण हैं यह देखा जा रहा है—ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, अस्तित्व वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, प्रमेयत्व आदि अनंतगुणोंका उसमें चय है, परन्तु वह संग्रह बाहरसे कहीं से भी आकर नहीं हुआ, वस्तु जैसी है वैसी बताने केलिये वस्तुमें स्वभावसे ही रहने वाले गुणोंका यह भिन्न रूपसे प्रतिपादन है । इसलिये व्यवहारनयसे परमात्मस्वरूपको चयरूप बतलाया है । इसी तरह व्यवहारनय से परमात्मस्वरूप अचयस्वरूप है—अर्थात् जो भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं उनका यहाँ सद्भाव नहीं, तथा किसी भी परद्रव्य, परप्रदेश, परपरिणति, परशक्तिका यहाँ संग्रह नहीं—समावेश नहीं है । इसलिये वह परमात्मस्वरूप अचय कर सहित है । उस परमात्माको अर्थात् परमात्मस्वरूपको विशुद्ध मन वचन कायसे नमस्कार किया है । जब किसी शुद्धतत्त्वका एकमात्र लक्ष्य होजाता है, तब उसमें स्थिरता न होने पर उस तत्त्ववानके प्रति जो भी उस भक्त के पास हो उस सबका उसीके आदरके

प्रति उपयोग करता है। यहां प्राकृतिक प्रयत्नको देखो कहीं मत्त धन वस्त्र आदिके द्वारा आदर नहीं करता, वे तो आत्मासे कुछ भी संयोग नहीं रखते। मन वचन काय यद्यपि आत्मासे पृथक्स्वरूप और पृथक् उपादान वाले हैं, तथापि व्यवहारदृष्टिसे संयुक्त हैं, अतः मैं भी मन वचन कायको संम्हाल करके परमात्माको इस अचयाचय एवं चयाचय स्वरूप निजतत्त्वके अनुभव के अर्थ नमस्कार करता हूँ।



निश्चय-व्यहार

(२)

ज्ञान होनेके दो प्रकार हैं--एक तो वस्तुके अभेद एवं अंतरंग विषयकी मुख्यतासे होने वाला, इसे निश्चय कहते हैं। दूसरा वस्तुके भेद, विशेष एवं बहिरंग विषयकी मुख्यतासे होने वाला, इसे व्यवहार कहते हैं। इन दोनों दृष्टियोंके आधारसे आत्मा, ज्ञानोपाय, आत्म-प्रवृत्ति आदि तत्त्व वर्णनीय हैं। वस्तुका पूर्ण स्वरूप न केवल निश्चय से गम्य है, और न केवल व्यवहारसे गम्य है। तथा वस्तुस्वरूप जाने बिना कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका अनुसरण व अवहेलन नहीं हो सकता। अतएव जो भी वर्णन करूंगा उसमें यह देखना है कि निश्चयसे क्या और व्यवहारसे क्या है। एक यह भी विशेष ध्यान देने की बात है कि व्यवहारके समक्ष निश्चय तत्त्व ग्राह्य है और वह निश्चयतत्त्व इसलिये ग्राह्य है कि परमतत्त्व जो आत्माकी निर्विकल्पदशा उसमें परिणत कर देनेके पहिले प्राग्रूप निश्चय है। इसी प्रकार निश्चयका प्राग्रूप व्यवहारका बोध भी आवश्यकीय है। निर्विकल्पदशा में परिणत जीवके न निश्चयतत्त्व का ग्रहण है और न व्यवहारतत्त्व का ग्रहण है। जैसे कोई दाहिनी आंख

से देखे, कोई बाँई आंख से, कोई दोनों आंखों से देखे और कोई दोनों आंखें बन्द कर अंतर्दर्शन करे। इसी तरह कोई निश्चयसे जाने, कोई व्यवहारसे जाने, कोई प्रमाणसे जाने, कोई नयप्रमाणके उदयसे रहित निर्विकल्पदृष्टिमें अंतर्दर्शन करे, यह चौथी बात ही मुमुक्षुओंका लक्ष्य होता है और एतदर्थ ही प्रयास है। यही सार है, सर्वोपरि है। निश्चय, व्यवहार सापेक्ष हैं। जहाँ यह वर्णन हो कि निश्चयनयसे ऐसा है वहाँ उसी से यह ध्वनित होता है कि व्यवहारनयसे अन्य प्रकार है। तथा जहाँ यह वर्णन हो कि व्यवहारनयसे ऐसा है वहाँ यह ध्वनित हो गया कि निश्चय नयसे ऐसा नहीं है। निश्चय व्यवहार अपेक्षाकृत हैं, प्रकरण वक्ष्य निश्चयनयका जो विषय बताया जा रहा है वही विषय अन्य अंतरंगदृष्टिके मिलते ही व्यवहारनयका हो जाता है। ये अस्थिरतायें बोधमें दूषण पैदा नहीं करतीं, प्रत्युत बोधको स्पष्ट और दृढ बनाती हैं।



स्वार्थप्रयास-परार्थप्रयास

(३)

इस ग्रन्थके वर्णनका प्रयास मुझ आत्मामें हो रहा है। इसका फल विचार, वितर्क या उपयोग लगना, अन्य सर्व ओरसे उपयोग हटना, चित्तकी चंचलता न होना आदि है, सो यह भी मुझ आत्मामें हो रहा है। इसका हेतु रागका उदय है, उसकी वेदनाका यह प्रतिकार है, तथा वर्तमान परिचयादि सम्बन्धमें आये हुये ये मुमुक्षु मित्रजन जो कि निश्चयतः स्वयं निर्मलताके अभिमुख हैं, तथापि यतः निश्चय या निश्चयके फलमें न मैं मग्न हूँ और न वे मग्न हैं, ततः वेनापातित व्यवहारके कारण मेरा समझे हुए तत्त्वका प्रदर्शन यदि वधुवोंके कल्याणका साधक हो सके तो कहूँ” इस भावनाका परिणमन भी मुझमें हो रहा है, उससे प्रेरित हो कर होने वाला यह प्रयास भी मुझ में ही है। अथवा जीवनका समय चिन्ताओंमें या बाह्य वितर्कोंमें जाना श्रेयस्कर नहीं है, उसकी निवृत्तिकेलिये एवं स्वयंका भी बोध वा निर्मलता बढ़े तदर्थ हुआ प्रयास मुझमें ही है। अतः स्वार्थप्रयास निश्चय है।

जिन लोगोंकी परिणति विशुद्ध होनी है उस समय यदि यह रचना निमित्त पड़े तब वहाँ परार्थप्रयास

भी है, अथवा इसका रहस्य अन्य सज्जन भी जानें, या जाने हुएको दृढ़ करें इस कल्पनामें पर आत्मा विकल्पके आश्रय हुए, अतः यह भी परार्थप्रयास है। स्वार्थप्रयास तो निश्चय है और परार्थप्रयास व्यवहार है। स्वार्थप्रयास की दृष्टिके मुख्य रहने पर किसी भी व्यवसायको करता हुआ भी ज्ञानी प्राकरणिक, (कर्ता) नहीं होता, असंतुष्ट और संक्लिष्ट नहीं होता, तथा अपनी कमियों को समझता है, एवं दूर करनेका समय २ पर समधिबल का प्रयोग करता रहता है। अथवा सहज ही जागृत हुई समाधि, उस के कल्याण का कारण होती है। और परार्थप्रयासकी व्यवहारदृष्टि मुख्य होनेपर आत्म विश्राम नहीं होता।



अध्यात्म और आगम

(४)

बाह्य पदार्थके अवलंबनकी मुख्यतासे होने वाला, नाना विकल्पोंसे युक्त बाह्य-स्पर्शी बोध, आगमिक कहलाता है, क्योंकि आगमका अर्थ है आ समन्ताद्गमनं आगमः=इतस्ततः [सर्वत्र परंपरा के अनुकूल यहाँ वहाँ से) लाया हुआ । इसलिये आत्मामें आत्माकेद्वारा सहज हुए बोधके अतिरिक्त जितने भी परोपदेश, शास्त्र आदिके अवलंबनसे उत्पन्न बोध हैं, वे आगमिक कहलाते हैं ।

आत्मानुभवकी मुख्यतासे होनेवाला अभेदवाही (अभेद-की ओर उन्मुख रहनेवाला) अंतःस्पर्शी बोध आध्यात्मिक कहलाता है । क्योंकि अध्यात्मका अर्थ है-आत्मनि इति अध्यात्म, जो स्वयं आत्मा में हो, अतः यह स्वाधीन निश्चित प्रमाण का रूप है, और पदार्थोंके निर्णयकी मुख्यतासे होनेवाला विभिन्न बाह्यमुखी बोध आगमिक कहलाता है ।

आध्यात्मिक विषय निश्चयका विषय होता है और आगमिक विषय व्यवहारका विषय होता है । आध्यात्मिकज्ञानमें स्वयं दृढ़ता रहती है, आगमिक ज्ञानमें श्रद्धाके कारण दृढ़ता आती है । आध्यात्मिक ज्ञान स्वानुभूति है, और आगमिक ज्ञान स्वानुभूतिके अर्थ है ।

आगमिक ज्ञान कारण है और आध्यात्मिक ज्ञान फल है। आध्यात्मिक अनुभवमें बाह्य विकल्प नहीं, इतनी ही बात नहीं, किन्तु आगमिक विकल्प भी नहीं है। अतः इस दृष्टिसे यह कहना अयुक्त नहीं कि आगमिक ज्ञान, आगमिकज्ञानके अभावेक लिये है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव की कर्म आदिकी विविध दशावस्थाओंके ज्ञानका प्रयोजन व फल यही है-जो उनके द्वारा तत्त्वका निर्णय करके उन सब विकल्पोंसे रहित निर्विकल्प दशा रूप रहे। इसी भावको “आगमिकज्ञान आगमिकज्ञानके अभावके लिये है” इन शब्दोंसे कहा गया है। यह आध्यात्म प्रवर्तक आगम ज्ञानका अभाव आगमज्ञानकी कृपासे हुआ है, यदि कोई विशिष्ट पुरुष आगमिकज्ञान की विशेषता न रखता हो परन्तु यदि मोह कर्म पर विजय प्राप्त करनेकी कुशलता पाई हो तब वहभी अन्य मोक्ष पथिक महापुरुषोंकी भांति फल पानेमें रंचमात्रभी पीछे नहीं रह सकता, और आगमिकज्ञानी यदि आध्यात्मिकता नहीं पासका तो वह नियमसे मुक्तिफलसे वंचित रहा, अतः आध्यात्मिकताका कारण रूप जो मोहका विनाश है वही उपादेय है। उसके साथ २ ही आगमिकता कार्यकारिणी है।

(५)

सप्तनय व उपचार

आगमिक ज्ञान दो प्रकारसे होता है—एक तो सप्तनयों द्वारा, दूसरे उपचार करके। सातों नय उसही वस्तुमें रहनेवाले धर्मोंका उसही वस्तुके विषयमें प्रतिपादन करते हैं। और उपचार दूसरी वस्तुके धर्म या संबंध का दूसरी वस्तुमें प्रतिपादन करता है। उपचार-प्रकार बहिरंग विषयक होनेसे व्यवहार है, यह दूसरेके धर्मको दूसरे द्रव्यमें आरोप करता है, व दूसरे वस्तुके सम्बन्धसे दूसरा व्यवहार करता है। जैसे जिस घटमें घी रक्खा था या रक्खा है या रक्खा जायगा, उसे घीका घड़ा कहना। घड़ा घीका नहीं है मिट्टीका ही है, किन्तु उसमें घी रक्खा था या रक्खा है या रखनेके इरादेसे लाया गया है, इतने संबंधमात्रसे घीका आरोप किया, वह अन्यका अन्यसे उपचार करनेसे व्यवहारका विषय है।

सप्तनय उसही वस्तुके धर्मोंको उसही वस्तुमें कहते हैं। यद्यपि इसमें कई नय अमेदस्पर्शी हैं कई नय भेद स्पर्शी हैं तथापि उपचारके समक्ष सातों नय अंतरंग हैं अतः निश्चयरूप हैं। इनका विशद वर्णन आगे किया जावेगा। किन्हीं बिद्वानोंने तो उपचारको मुमुक्षुजनों के स्वहितमें आर्कित्कर होनेसे अवर्णनीय ही माना है।

और इस दृष्टिमें यह बात है भी ठीक, किन्तु भले प्रकार तत्त्व निर्णय करनेके लिये व्यवहाररत जनोंको उपचारके उपायसे मोघ कराके फिर वास्तविकता पर पहुँचाया जाता है, अतः कुछ प्रयोजनवाला है। जैसे कोई बालक घृतपूरित घड़ेको घीका घड़ा ही सुनता आया है, अन्ध घड़ेके परिचयसे रहित है, उसे व्यवहार कार्यकी पूर्तिके लिये 'घीका घड़ा लाओ' आदि वाक्योंसे कहा जाता है, तथा वास्तविकता भी यदि कोई समझना चाहे तो उस बालकको ऐसी शब्द कहने पड़ेंगे कि हे बालक ! जो यह घीका घड़ा है सो घीका बना हुआ नहीं है, किन्तु मिट्टी का बना हुआ है। वहाँ उस बालकको वास्तविकता समझनेके लियेही प्रथम प्रयोगके द्वारा उपयोग पहुँचाने रूप प्रयोजन हुआ है तथा व्यवहार पूर्तिमें तो सदा वह प्रयोग प्रयोजन रखता है।



(६)

उपचरित सद्भूतव्यवहारनय-

उपचरित असद्भूतव्यवहारनय

सप्तनयोंमें कुछ नय अभेदस्पर्शी हैं, और कुछ नय भेदस्पर्शी हैं, परन्तु उन सबका जो वर्णन है वह व्यवहार का ही कार्य है ।

उस व्यवहार के २ भेद हैं-१-सद्भूतव्यवहारनय
२ असद्भूतव्यवहारनय ।

उसही वस्तुका गुण उसीमें कहना सद्भूत व्यवहार है, और दूसरे द्रव्यके संबंधसे हुए गुण दूसरेमें कहना सो असद्भूत व्यवहार है । येही दोनों व्यवहार जब परकी अपेक्षा उपचरित (व्यवहृत) होते हैं तब ये उपचरित हैं । और जब स्व की अपेक्षासे व्यवहृत होते हैं तब अनुपचरित कहलाते हैं ।

उपचरितसद्भूत—यथा—“आत्मा स्वपरका ज्ञाता है” इसमें ज्ञातृत्व गुण आत्माका है, आत्मामें प्रदर्शित किया गया यह सद्भूत है और ज्ञातृत्व गुणको आत्मा गुणीसे भेद किया गया है, यह अंश व्यवहारका है, और पदार्थोंके अबलम्बनसे उपचरित किया गया यह उपचरित का अंश है ।

इससे यह श्रद्धा करो कि ज्ञातृत्व तो स्वयंही है, पर का तो उपचार है ।

उपचरित असद्भूत-यथा-बुद्धि (समक्ष) में आने वाले क्रोधादिकोंको आत्माके कहना । ये क्रोधादिक विभाव केवल जीवके नहीं हैं, पौद्गलिक कर्मके विपाकज हैं, फिरभी जीवके कहना यह तो असद्भूत है, आत्मामें जोड़ किया हुआ यह व्यवहार है, क्रोधादिकोंको क्रोधादि समक्षकरकेभी उन्हें जीवके बतलायेगये यह उपचरित है ।

इससे यह श्रद्धा करो, ये क्रोधादिक आत्माके स्वरूप नहीं है, इन्हें अपनाकर दुखी होना मूर्खता है, इनसे रहित सहज ज्ञान आत्माका स्वभाव है, वही मेरे प्रकट रहो ।

यहाँ उपचरित असद्भूत व्यवहार कर्म विपाकज विभावका विषय करनेका कारण व्यवहारनयका विषय है, और उसके समक्ष उपचरित सद्भूत व्यवहार आत्माके सद्भूत सहज ज्ञान दर्शन भावको विषय करने से निश्चयनयका विषय है, उपचरितता तो ज्ञानमें विषयभावको प्राप्त हुए ज्ञेयकी ज्ञेयताके संबंधसे हुई है ।



उपचरित सद्भूतव्यवहारनयकी दृष्टिमें परमात्मा की सर्वज्ञता अवधिषित है ।

१—वस्तुके सर्व गुण वस्तुके प्रदेशोंमें ही होते हैं प्रदेशोंसे अन्यत्र आधार नहीं होता इस न्यायसे परमात्माका ज्ञान गुण भी परमात्म प्रदेशोंमें ही व्यापकर अपनी अवस्थायें करता है, इसलिये निश्चयसे वह आत्मज्ञ है, परन्तु ज्ञानगुणकी स्वच्छताके कारण समस्त ज्ञेय पदार्थोंका प्रतिभास होता है अतएव सर्वज्ञेयके सम्बन्धसे कहीजाने वाली सर्वज्ञता उपचरित सद्भूतव्यवहारनयका विषय है ।



(७)

अनुपचरित सदभूतव्यवहार व अनुपचरित असदभूतव्यवहार ।

जिस पदार्थमें जो गुण हैं उसे विशेषकी अपेक्षा रहित सामान्य रीतिसे उसीका कहना अनुपचरित सदभूत व्यवहार है ।

यथा--“ज्ञान जीवका गुण है” यद्यपि ज्ञानमें अनैक ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं तथापि यहाँ अवलंबन व विशेष दोनोंकी अपेक्षा न रखकर वर्णन है । सारांश यह है कि ज्ञान सदा जीवका ही अनुजीवी गुण है, उसका अस्तित्व स्वयं है, इसही ज्ञायक भावका अनुभव सम्यग् दर्शन है ।

परके निमित्तसे होनेवाले उन भावोंको जो बुद्धि (समझ) में नहीं आते उपादानके कहना सो अनुपचरित असदभूतव्यवहार है ।

यथा--“अबुद्धिगत क्रोधादिक जीवके कहना, यहाँ जो क्रोधादिक भाव सूक्ष्म हैं उनका उपचार तो होता नहीं, अतः अनुपचरित हैं--केवल जीवके नहीं हैं इसलिये असदभूत हैं, तथा जीवमें जोड़े गये हैं इसलिये व्यवहार हैं ।

[तत्त्व रहस्य

इससे ऐसा विश्वास करना चाहिये कि जीवमें सहज होनेवाले ज्ञायकभाव व अन्य अनुजीवी गुणोंके शुद्ध परिणमनके अतिरिक्त जो भी विभाव परिणाम है। चाहे वह कैसाही सूक्ष्म हो, जीवका स्वरूप नहीं, कल्याण व सुखका स्थान नहीं है, अतः विभाव रहित सहज परिणमन ही सार है, शरण है, वही प्रकट होओ। अन्य सब असार हैं, मायिक हैं।

यहां अनुपचरित असद्भूत व्यवहार कर्म विपाकज विभावोंको विषय करनेके कारण व्यवहार नयका विषय है। अनुपचरितता तो बुद्धिगत न हो सकनेके कारण है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार आत्माके सद्भूत सहज स्वभावको विषय करनेके कारण निश्चय नयका विषय है, व्यवहार नय तो कथनके कारण है।

इस अनुपचरित सद्भूत नयकी दृष्टिमें परमात्मा आत्मज्ञ है। क्योंकि यह नय अनुपचरित है ज्ञानके विषयभूत ज्ञेयके अवलंबनसे रहित है--और यह अवलंबन-रहितपना--इस नयके विषयके कथनमें नहीं, किन्तु अनुभवमें है। द्रव्यकी अपेक्षा अनेकताका अभाव है, क्षेत्र की अपेक्षा व्याप्यताका अभाव है, कालकी अपेक्षा विशेषताका अभाव है, और भावकी अपेक्षा परभावका अभाव है। यह अनुभव परमामृत है।

अचय—संधि-विग्रह [जोड़-तोड़]

(८)

चयान्निष्क्रान्तो निश्चयः, इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह अर्थ होता है “जो बटोरनेसे दूर है वह निश्चय है” अर्थात् अचयको निश्चय कहते हैं। यह जैसा वस्तुका स्वरूप है उतने मात्रकोही जनाना चाहता है। मिलावटसे दूर है। इसी प्रकार वस्तुके गुणोंको भी नहीं कहना चाहता, क्योंकि वह वस्तुका तोड़ है जिस तोड़से वस्तु पूर्ण नहीं रहती। इसकी दृष्टिमें अंश विशेष कल्पना रहित वस्तु जानी जाती है। ऐसी प्रतीतिही सम्पददर्शन है। जब तक इसकी प्रतीति नहीं तब तक भ्रम रहता है।

विशेषण अवहरणं व्यवहारः, व्यवहार जोड़ और तोड़ को कहते हैं।

जो वस्तुका स्वभाव नहीं उसे जोड़ना व्यवहार है जैसे आत्मामें रागादिक हैं या कर्म नोकर्म हैं।

वस्तुके गुणोंका भिन्न भिन्न वर्णन करना तोड़ है, जैसे जीवके ज्ञान है, दर्शन आदि। जीव सिर्फ ज्ञान ही नहीं, सिर्फ दर्शन भी नहीं, किन्तु सकल गुणोंका पिण्ड रूप एक वस्तु है।

फलितार्थ यह है कि—यावन्मात्र वर्णन है वह व्यव-

हार है । किन्तु जो निश्चय तत्त्वको नहीं समझता है उसे समझानेका उपाय ही यह व्यवहार है ।

जैसे कोई म्लेच्छ संस्कृत भाषा नहीं समझता उसे कोई स्वास्ति कहे तो वह चकितसा रह जाता है, यदि कोई दूसरा पुरुष जो संस्कृत व म्लेच्छ-दोनों भाषाओंको जानता है वह म्लेच्छ भाषामें बोलनेके उपायसे म्लेच्छ को उसका अर्थ समझा देवे, तब वह म्लेच्छ आनन्दित होता है । इसी तरहसे निश्चय व्यवहार तत्त्वके जानने वाले आचार्य व्यवहारनयके उपायसे व्यवहारियोंको निश्चय तत्त्व समझानेकी करुणा करते हैं ।

समझाने और समझनेके अवसरमें सांघिविग्रह प्रयोजन-भूत हैं, तथापि वस्तु केवल और पूर्णरूपको ग्रहण न करनेके कारण व्यवहार हैं । और अचय जोड़ और तोड़से दूर रहनेके कारण वस्तुके केवल और पूर्णरूप पर लक्ष्य कराता है, अतः निश्चय है ।



केवल-उपचार

(६)

केवल अर्थात् मात्र वस्तु परही दृष्टि रहना निश्चय है । जो वस्तुमात्रसे कुछ अधिक या वस्तुके अंशोंका वर्णन करना है वह वस्तुमात्रकी दृष्टिसे बाहरकी दृष्टि है । अतः उसे उपचार करते हैं ।

उपचारका अर्थ है—उप=समीपे चारयाति उपचारः, जो वस्तुके पासही घुमावे उसे उपचार कहते हैं, उपर्युक्त दृष्टि वस्तुमात्रके बाहर उसके पासही आती है ।

उपचारका विषय उपचारके रूपसे जाननेमें निश्चयके विषयकी ओर झुकाव होता है । यदि उपचार रूपसे न समझा, तब वह दृष्टि संसार वर्द्धक है । यथा इन्द्रिय शरीर आदि जीवके कहे जाते हैं परन्तु केवल जीवके नहीं हैं, पुद्गलकर्मके उदयसे ये होते हैं, इसलिये जीवमें इनका उपचार किया जाता है ।

उपचार रूपसे ये जीवके हैं, भूतार्थ नहीं । इस दृष्टिमें जीवके कहे जाकरभी निषेध लक्ष्य है । यदि ऐसा न हो तो वहिरात्मत्व (मिथ्यादृष्टित्व) ही है ।

इसी प्रकार जो सकल परमात्माके देह, वंश, वाणी आदिका वर्णन करके परमात्माकी स्तुति करता है वह

उपचारसे स्तुति है। केवल जीवके स्वभावका वर्णन करके जो स्तुति है जैसे— 'आप निर्मोह हैं' 'विश्वज्ञाता हैं' आदि वह वास्तविक स्तुति है।

जैसे किसी मूढ़ धनीके वैभवका वर्णन किया जायकि 'आपके सात खंडका मकान है' तो वह ऐसा खुश होता है मानों उसी पुरुषके सात खंड हों। इसी तरह पुत्र स्त्रीकी प्रशंसामें खुश होता है, यह सब क्यों ? इसलिये कि वह परको अपनाही स्वरूप समझता है। यदि उसे बोध होजाय कि यह सब उपचार हमारे व्यवहारी जन बताते हैं, तो उसे केवलका भी बोध होजाय और वह विकलता रहित होजाय।

इसलिये सबको जानना ठीक है, परन्तु दोनों दृष्टियों की पहिचानके साथही जानना ठीक है।



द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक

(१०)

द्रव्य अर्थः प्रयोजनं यस्मासौ द्रव्यार्थिकः अर्थात् द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक कहलाता है। त्रिकाल-वर्ती विशेषरहित, किन्तु विशेषगतगुणपिंड वस्तुको द्रव्य कहते हैं, जिसकी दृष्टिका विषय यह द्रव्य है वह द्रव्यार्थिक है।

पर्यायः अर्थः प्रयोजनमस्यास्ति सः पर्यायार्थिकः अर्थात् पर्याय जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक कहलाता है। भिन्न २ कालवर्ती उत्पन्न और नष्ट होनेवाली द्रव्यकी अवस्था विशेषको पर्याय कहते हैं। जिस दृष्टिका विषय यह पर्याय है वह पर्यायार्थिक है।

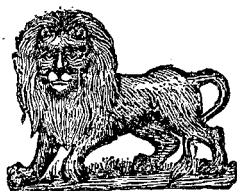
पर्यायार्थिक दृष्टि--भिन्न २ विशेषको ग्रहण करता है, जो सदा रहनेवाले भी नहीं और किसी विशेष समयमें उत्पन्न होते हैं। ये विशेष वस्तुके अनादि, अनंत, अचल रूप नहीं हैं, अतः यह वर्णन व्यवहार है, और द्रव्य अनादि, अनंत, अचलरूप है इसलिये यह निश्चयका विषय है।

व्यवहारका विषय जानकर यदि वह प्रतिषेध्य हो अर्थात् ये वस्तुके सहज रूप नहीं हैं इस दृष्टि पर पहुँचे

तब व्यवहारदृष्टिका लाभ उठाया समाप्तिये, अन्यथा अनादिसे ही अनंत आत्मा विशेषको अपनाते हुये चले आ रहे हैं, और संसार बड़ा रहे हैं।

द्रव्यार्थिक दृष्टिसे जब द्रव्यका स्वरूपावगम होता है तो उसके बाद ही आत्माका अनुभव विशेषदृष्टिसे रहित होनेके कारण निर्विकल्पतामें परिणत होजाता है। यह दृष्टि आज तक जीवने नहीं पाई, और यदि कभी पाई भी, तो व्यवहारका सर्वथा विरोध करके।

अतः मुमुक्षुका कर्तव्य है, कि अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले व्यवहारनयका विरोध न करके शुद्ध द्रव्यका निरूपक निश्चयका अवलंबनकर उससे भी आगे बढ़ कर निर्विकल्प आत्म परिणतिका दर्शन करे, इसे सम्यक्त्वानुभव कहते हैं।



निरपेक्ष-सापेक्ष

(११)

निश्चयनयका विषय अखंड द्रव्य है, वह विशेषोंकी अपेक्षा नहीं करता, अतः निरपेक्ष है। व्यवहारनयमें द्रव्यका अंश विषय होता है और विशेषकी अपेक्षा रखता है, अतः सापेक्ष है।

आत्माका निरपेक्ष परिणमन विसंवाद व अशुद्धतासे रहित है, अतः सुख स्वरूप है। सापेक्ष परिणमन अशुद्धता विवाद, आकुलता, स्वरूपच्युतिसे युक्त है, अतः दुःख रूप है। निरपेक्ष परिणमन जिस दृष्टिका विषय हो वह विषय निश्चय है, और सापेक्ष परिणमन जिस दृष्टिका हो वह व्यवहार है।

शास्त्रोंके द्वारा व उपदेश द्वारा, व अपने मनन द्वारा, मनके अवलंबनसे स्वरूप बोध होता है, इसके बाद आत्माका सहजरूप चिन्तन करते करते जब ध्यानादि विकल्पसे निरपेक्ष होजाता है और मनसे भी अतीत होजाता है, उस क्षण जो अवाच्य किन्तु अनुभाव्य जो निराकुल परिणमन है, वह निरपेक्ष सुख है, इसपर दृष्टि खानेवाला निश्चय निरपेक्षनय है।

परकी आज्ञा प्रतीक्षा आश्रय कर जो अज्ञान्तरूप

परिणमनका भोग है वह दुःखरूपही है, मोहके उदयमें यह जीव उसमेंभी कभी कभी सुखकी कल्पना करता है, और कभी २ अत्यन्त उद्विग्न होजाता है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रका अवलंबनही धर्मका सर्वस्व समझकर अपनी स्वतन्त्रवृत्तिको छोदेता है। अपनेको बनाने वाले किसी अन्य ईश्वरादि चेतन द्रव्यका स्वयंको कठपुतला समझ कर अपने सत्य आत्मदर्शनरूप पुरुषार्थको छोकर दीन बना रहता है। पुत्र, मित्र, स्त्री, बंधु आदि से ही सुखकी प्राप्ति मानकर अपनेको सुखगुणका अनाश्रय बनाकर गरीब ही बना रहता है।

हा! अद्यावधि यह जगत् निरपेक्ष परिणमनका स्वादन पा सकनेसे असार वस्तुओंको आत्मसमर्पण-किये हुए है।

मगधन्! आप इस परमानन्दमें निमग्न हों, मैं आपमें निमग्न रहूँ, फिर वह वृत्ति भी अत्यन्त निकट ही है।



स्वाश्रित=पराश्रित

(१२)

जो केवल निजके आश्रयसे बोध कराता है वह स्वाश्रित निश्चय है। और जो परके आश्रयसे बोध कराता है वह पराश्रय व्यवहार है।

स्वाश्रितनय वस्तुके सहज तत्त्वको बताता है, इस सहज तत्त्व रूप जिनका पूर्ण परिणमन होजाता है, वे सब प्रकारके दुःख तथा सब प्रकारकी मलीनतासे मुक्त होजाते हैं। प्रायः सर्व संसारी प्राणियों की दृष्टि पराश्रित है, अतएव इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा सुख दुःखको भोगकर मलीन बने रहते हैं।

जो पराश्रितनयका विषय है वह अभावरूप या माया रूप नहीं है, है तो अवश्य, परन्तु आत्माके हितरूप नहीं, अविनाशी नहीं, पराधीन है इसलिये प्रतिषेध्य है।

स्वाश्रितनयकी दृष्टिके अनंतर इस दृष्टिके विषयभूत निर्विकल्पतत्त्वका परिणमन होसकता है। अर्थात् व्यवहार के विषयसे अतीत होजाता है अतः यह स्वाश्रितनय ब्रह्म है व प्रतिषेधक है। परन्तु व्यवहारका विरोध करनेवाला हितपथ नहीं पासकता। इसलिये निश्चयदृष्टिको अवलंबन करते हुए भी व्यवहारका विरोध करनेका अभिप्राय न

हो, वह तो स्वयं प्रतिषेध्य होजायगा, व्यवहार दृष्टिमें सत्य व्यवहारके विषयका अभाव कहनेवाला आस्तिक नहीं कहला सकता ।

यदि यह व्यवहारका विषयभूत जगत् जो मोड़ी प्राणियोंका विषयग्राम बन रहा है, सर्वथा असत्य हो तो फिर दुःखही किस बातसे हो, अन्यथा आकाशके फूलोंकी मालाएँ बनना क्यों असंभव हो ?

अहो ! यह संसारी जन्तु विषयोंका ही परिचय और अनुभव कर पराश्रित दृष्टिसे अपनेको खो बैठा है, और जगह जगह अपनेको (सुख) खोजता फिरता है ।

हे आत्मन् ! एकवार ही तो समस्त विकल्पजालको छोड़कर स्वाश्रित दृष्टि कर ।

सुख तो अब तक तू अपने माने हुए कामोंमें भी नहीं पा सका, एक बार पराश्रय रहित दृष्टिका ही प्रयोग कर देख ।



भूतार्थ—अभूतार्थ

(१३)

भूत-अर्थ=जो स्वयं हुआ अर्थ है वह भूतार्थ है। जो परकी अपेक्षाके बिना होवे अथवा जो त्रिकाल रहे—ऐसा ध्रुव भाव, इसे सत्यार्थभी कहते हैं। इसका विषय शुद्धात्मस्वरूप है। फिरभी इसके दो भेद हैं—एक शुद्ध भूतार्थ दूसरा अशुद्ध भूतार्थ।

शुद्धभूतार्थमें तो नवतत्त्वकी कल्पना नहीं, अशुद्ध-भूतार्थमें नवतत्त्व हैं परन्तु जीवमें ही उनकी प्रतिष्ठा है।

अ-भूत-अर्थ=जो स्वयं नहीं हुआ अर्थ है वह अभूतार्थ है—जो परकी अपेक्षासे होवे, अथवा जो त्रिकाल न रहे ऐसा क्षणस्थायी भाव, इसे असत्यार्थभी कहते हैं। इसका विषय शुद्धात्मस्वरूपसे अतिरिक्त भाव है। इसके भी दो भेद हैं—एक शुद्ध अभूतार्थ दूसरा अशुद्ध अभूतार्थ।

शुद्ध अभूतार्थ और अशुद्ध भूतार्थका विषय समान है, परन्तु अशुद्ध भूतार्थ तो परकी अपेक्षा बिना विषय अवलोकन करता है और शुद्ध अभूतार्थ परकी अर्थात् निमित्तकी अपेक्षा रखकर अवलोकन करता है।

अशुद्ध अभूतार्थकी वृत्ति उपचारसे होती है ।

अशुद्ध अभूतार्थसे शुद्ध अभूतार्थ, शुद्ध अभूतार्थमें अशुद्ध भूतार्थ, अशुद्ध भूतार्थसे शुद्ध भूतार्थ अंतरंग विषय वाले हैं ।

जो क्रमशः अंतरंगमें पहुँचकर शुद्ध भूतार्थके विषय-भूत-आत्मस्वरूपका अवलोकन करते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं ।

यहां यह तात्पर्य नहीं है—कि—अभूतार्थ सर्वथा असत्यही है, किन्तु भूतार्थकी दृष्टिमें यदि अभूतार्थ असत्य है तो अभूतार्थकी दृष्टिमें भूतार्थभी असत्य है ।

वस्तुका स्वभाव, पर निरपेक्ष स्वसत्तारूप है, और यह भूतार्थका विषय है । इसलिये-सति मंत्रः अर्थः = सत्यार्थः केवल स्वसत्तामें होनेवाला अर्थ, सत्यार्थ है, और वस्तुके स्वभाव विरुद्ध होनेवाला अर्थ स्वयं असत्य है । अतः अभूतार्थ-असत्यार्थ है । किन्तु वह है अवश्य, हां उसकी दृष्टिमें संसार है और भूतार्थकी दृष्टिमें संसार का अभाव है ।

भूतार्थ निश्चय है अभूतार्थ व्यवहार है ।

परमार्थ-अपरमार्थ

(१४)

परा मा-लक्ष्मी यस्यासौ परमः परमश्चासौ-अर्थश्चेति परमार्थः, अथवा परमः अर्थः प्रयोजनं यस्यासौ परमार्थ-स्तद्विपरीतोऽपरमार्थः—वस्तु की लक्ष्मी वस्तु का विकृति रहित स्वरूप ही है। तब परमार्थका यह अर्थ हुआ-जो उत्कृष्ट स्वरूपवान् पदार्थ अथवा उत्कृष्ट स्वरूप सहित पदार्थ जिस नयका प्रयोजन है वह परमार्थ नय है। उस से उल्टा अपरमार्थनय है, परमार्थ निश्चयका विषय है, और अपरमार्थ व्यवहारका विषय है।

जो भव्य परमभावका अनुभव कर लेते हैं, उन्हें शुद्ध (श्रव्य) नयका ही उपदेश है। और जो भव्य अपरम भावमें स्थित हैं उन्हें व्यवहारसे ही उपदेश होता है। अर्थात् व्यवहार उन्हें प्रयोजनवान है।

जैसे--जो पूर्ण शुद्ध सुवर्णके परिज्ञानी हैं उनको कुछ भी अशुद्ध सुवर्ण प्रयोजनवान नहीं है। क्योंकि अशुद्ध सुवर्णमें परम सुवर्णका अनुभव अब उन्हें नहीं है, किन्तु जो शुद्ध सुवर्णके ज्ञानी नहीं हैं उन्हें अशुद्ध सुवर्ण प्रयोजनवान है।

यहां परमभाव तो अमेद रत्नत्रयमें परिणत समाधि

भाव है, और अपरमभाव शुभोपयोग तथा भेदरत्नत्रय का भाव है। सो यह अपरमदशा शुभोपयोगकी मुख्यता की अपेक्षा चौथे, पाँचवें, भेदरत्नत्रयकी मुख्यताकी अपेक्षा छठे, सातवें गुणस्थानोंमें है।

सात्त्विक आनंद निर्विकल्प समाधिरूप परमदशामें है। इस आनंदकी बाधिका बाह्य दृष्टि है, बाह्य दृष्टि आत्मा की घोर अनर्थ करनेवाली है, इसीके वश आजतक अनंत काल क्लेश भोगते भोगते व्यतीत हुआ।

अरे जिस बाह्यके आश्रय तू राग परिणति बना रहा है वे तो बाह्य ही है, तुझसे ऐसे भिन्न हैं जैसे अम्ब अपरिचित व अपने न माने हुए पदार्थ हैं। मोहनींदमें सोता क्या स्वप्न देख रहा! जाग!! आत्मा को सावधान कर।



निरंश—सांश

(१५)

वस्तुका जितना स्वरूप है, वह चाहे अवाच्य हो, परन्तु उतने स्वरूपको, बिना अंश किये पूर्णतया जो जानता है वह निश्चयनय है। अतः निरंश अर्थ निश्चय का विषय है।

वस्तुके किन्हीं गुणों द्वारा जानने वाला व्यवहारनय है। यह वस्तुके अंशको मुख्यतया ग्रहण करता है, अतः सांश अर्थ व्यवहारका विषय है।

यद्यपि प्राथमिक जन व्यवहार द्वारा सांश अर्थको समझनेके द्वारा आगे निरंशको समझते हैं, उस निरंशको बतानेका प्रकार भी सांश ही है, अतः सांश व्यवहार प्रयोजनवान् है, तथापि मुमुक्षुओंका परम लक्ष्य निरंशपूर्ण अर्थ है, इसके अनुभवके बिना पर्यायबुद्धि प्राणी विश्राम-शान्ति नहीं पासके हैं।

रागद्वेष सहित ज्ञानकी क्रियामें सांश-खंडबोध ही रहता है और यह खंड खंड ज्ञान, ज्ञान स्वभाव आत्मा की मलिनताका उत्पादक है, ज्ञानके लोभीजन इसही सांश ज्ञानकी लालसा रखते रहते हैं, ओ आत्माको हित स्वरूप नहीं।

वास्तवमें ज्ञान, कोई ज्ञान हो, चाहे निरंश या सांश, भावापेक्षया तो सभी ज्ञापक भाव हैं, उसमें हेय या उपादेयकी चर्चा ही क्या है? परन्तु ज्ञानमुखेन गुण-विकारोंका अनुभव होता है। इस सरलताके कारण रागादि विभावोंकी करतूतोंका दुष्फल ज्ञान पर लादा जाता है।

अथवा यह ज्ञानकी अभिमुखताका गुण दोष है। यदि ज्ञान ज्ञानाभिमुख रहे तो रागादि नामक प्रकृतियोंका उदयकाल रहो, अथवा चारित्र गुणोंमें अव्यक्त विकार भाव रहो, तो भी आत्माकी निर्बंध व स्वतन्त्र दशा है।

अध्यात्म दृष्टिमें यह ही बंध है जो अशुद्ध पर उपयोग देना।

शुद्ध पर उपयुक्त आत्माके बंधन व परतंत्रता कहाँ ? और क्षोभ भी कहाँ ? शुद्धसे उपयोग दूर होते ही क्षोभ होता है। एक समय भी चारित्र विपारिणमनके अभावमें निर्बंध दशा होनेपर सदैव निर्बंध रहता है। अतः चारित्र मोहके क्षयके विना संबंध ही है। परन्तु जिसकी दृष्टिमें बंध, बंध फल नहीं वह तो उस दृष्टिमें शान्त ही है। अतः यहही एक अपूर्व लाभकारक व्यापार है, कि शुद्ध (निरंश) का एक चित्त होकर अनुभव करो।



शुद्ध—अशुद्ध

(१६)

शुद्धि ३ प्रकार की है—सत्ताशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, पर्यायशुद्धि ।

एक वस्तुकी सत्तामें अन्य समस्त परवस्तुकी सत्ता नहीं है, सबसे विभक्त है, यह तो सत्ताशुद्धि है ।

२—वस्तुके जो गुण स्वभाव हैं उनहीमें उनका परिणमन होता है, अन्य रूप नहीं होजाते हैं, यह द्रव्य शुद्धि है ।

३—जो द्रव्यके स्वभावके अनुकूल ही परिणति हो जाती है वह पर्यायशुद्धि है ।

इनमेंसे पूर्वकी दो प्रकारकी शुद्धि अनादि अनंत है, पर उनसे आत्माको शान्ति या अशान्ति नहीं, पर्याय शुद्धिमें आत्मा हितपूर्ण होजाता है ।

इन तीनों प्रकारसे, या एक प्रकारसे, शुद्ध अर्थ निश्चयनयका विषय है ।

वस्तु, सत्ता व द्रव्यसे अशुद्ध होता नहीं, पर्यायसे अशुद्ध होता है, सो भी उपाधिके सांनिध्यमें ही । उस समय गुण विकार रूप परिणमते हैं, वह अशुद्ध अर्थ व्यवहारका विषय है ।

जो अनवच्छिन्न धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्मा के ज्ञानमें रहते हैं अर्थात् शुद्धात्माका ध्यान करते हैं वे अपनेको शुद्ध आत्मा पाते हैं। क्योंकि जैसी भावना होती है वैसा ही अपनेको अनुभव होता है। और यदि अशुद्ध आत्माका अज्ञानसे अनुभव करे तो अपनेको नर नारक रूप पाता है।

“मुझे अमुक करना है” ऐसा भाव अशुद्ध दशा है, उसके अनुभवसे अशुद्धता ही बढ़ती है। बाह्यका उपयोग दूर कर। सर्व अपनी २ सत्तासे ही रक्षित हैं, अपनी परिणतिसे परिणत होते हैं, बाह्य अणुमात्र द्रव्यसे मेरा अणुमात्र संबंध नहीं, कुछभी काम नहीं आते, और यदि निमित्तत्वको पाते हुए कुछ काम आते हैं तो इतना ही कि क्षोभमें निमित्त हो जाते हैं, क्योंकि आत्माका हित तो अनाकुलतामें है सो वह पराश्रय नहीं होती।

अतः सुखकी प्राप्तिमें परकी आशा ही बाधक है। इसलिये अशुद्धदशासे उपयोग बदलो, और निराकुल शुद्ध तत्त्वका निर्विकार स्वके संवेदन द्वारा अनुभव करो यही सुखका उपाय है।

उपादान—निमित्त

(१७)

जिस द्रव्यमें अवस्थारूप कार्य हो, वह तो उपादान है। और उससे अन्य द्रव्य जिनकी उपास्थितिके कारण अवस्था हुई परन्तु भिन्नही रहें वे निमित्त हैं।

अथवा द्रव्य तो त्रैकालिक है, वह यदि किसी अवस्थाका उपादान हो या निमित्त हो तब सब अनियत होजायगा, व सदा सर्वत्र सब अवस्थाओंकी प्राप्ति का प्रसंग होजायगा, अतः पूर्व अवस्था सहित द्रव्य उसीकी उत्तरावस्था रूप कार्यका उपादान रहा है और योग्य विशिष्टावस्था सहित अन्य द्रव्य, जिनकी उपास्थितिके कारण वह कार्य हुआ परन्तु अपने स्वरूपास्तित्व सहित ही रहते हुए उससे भिन्न रहें वे निमित्त हैं।

यहां जो कार्यसे अभिन्न रहता है अर्थात् उपादान, निश्चयनयका विषय है। और जो निमित्त कारण हुए वे व्यवहारनयके विषय हैं।

कार्यका उसी उपादानसे अंतर्व्याप्यव्यापक भावका सम्बंध है। कार्यतो व्याप्य है, और जिसमें कार्य हुआ वह व्यापक है। फिरभी सम्बन्धके समय स्वरूपास्तित्व एक है, और कार्यके स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न आधारभूत वस्तुसे बाह्य, अन्य अनुकूल अवस्थासे विशेषित बाह्य-

द्रव्य, कार्य होने न होने या पूर्व या उत्तरकालमें रहनेके हेतु व्यापक हैं। परन्तु विशेष दक्षामें उसकी उपस्थिति अपेक्षित है, तथापि कार्यमें अव्याप्त है। इस बाह्यव्याप्य व्यापक सम्बन्धके कारण वे निमित्त व्यवहारनयके विषय हैं।

उपादान दृष्टिमें द्रव्यकी समस्त नियत पर्यायें क्रमसे अपनीही शक्तिसे प्रवाहरूप व्यक्त होती रहीं, व होती हैं, व होती रहेंगी। इस दृष्टिमें निमित्तकी आधीनता छूटती है, परन्तु निमित्तका अभाव वहाँभी नहीं है। अतः “निमित्त बिना होता है” यह एकान्त असत्य है। कथंचित् तो ठीकही है।



अभेद—भेद

(१८)

वस्तुका द्रव्यत्व, गुण, पर्याय वस्तुसे पृथक् नहीं है, अतः ये निश्चय नयके विषय हैं। और जो उससे भिन्न हैं वे उसके उद्देश्यके प्रति व्यवहारनयके विषय हैं। फिरभी अपने प्रति निश्चयनयके विषय हैं।

आत्मामें होनेवाले काम क्रोधादि विकाररूप परिणमन परिणामी आत्मासे अभिन्न हैं, अतः निश्चय नयके विषय हैं। तथापि आत्मामें त्रिकाल नहीं पाये जाते अतः आत्मासे भिन्नभी हैं। इस दृष्टिसे वे विकार व्यवहारनयके विषय हैं।

अथवा उस कालमें तो तादात्म्यसे हैं, अतः अशुद्ध निश्चयनयके विषय हैं।

इस विकारकी तरह कोईभी पर्याय हो वह समय मात्र रहकर दूर होजाती है। अतः वहभी भेद प्ररूप्य होजाते हैं। तब केवल द्रव्यत्व ही अभेद प्ररूप्य हैं।

अन्ततो गत्वा सब व्यवहारके विषय बन २ कर केवल द्रव्यत्व निश्चय कोटिमें बचा, सो भी विधिमुखेन प्ररूप्य होनेके कारण भेद डालदेता है। तब वह भी निश्चय कोटिसे निकल गया और निश्चय व्यवहार

के विवरण व परिवर्तनसे जो कुछ अशक्यविवेचन (जिसका विवेचन अशक्य है) उपादान ज्ञात हुआ वह निश्चयका विषय हुआ ।

यहां तक अनुभव कर लेने वाला भव्य द्वन्द्वसे बचकर शान्तिपथका पथिक बनता है ।

लौकिकजन कहते हैं कि “मन चंभा तो कठौतीमें गंगा” यदि उपयोग शुद्ध दृष्टिके पश्चात् शुद्ध विकल्प सेभी अतीत होकर शुद्ध बन गया तब सब अथकी सिद्धि यहीं है ।

आशा न रहनेका नाम आशाकी पूर्ति है । प्रयोजन की अवस्था न रहनेका नाम प्रयोजन सिद्धि है । भलेही बाह्य दृष्टिवाले इस बातका अनुभव न करें और बाह्य पदार्थके सम्बन्धको ही सुखका विधाता मानलें, परन्तु तत्त्व तो तत्त्वही रहेगा । आशा व प्रयोजनकी अवस्थाका अभाव शुद्ध अभेद्य उपयोगमें है । अतः यह कहना भी असंगत नहीं कि सर्व आशा और प्रयोजनकी पूर्ति शुद्ध उपयोगमें होजाती है ।



अवाच्य--वाच्य

(१९)

अभेदसे अभेदपर प्रवेश पानेवाली दृष्टिमें उत्तीर्ण अवाच्य तत्त्व निश्चयका विषय है, अघ्यात्ममात्र है। और वह ही कल्पनाओंसे प्रेरित विवेकी द्वारा वाच्य होनेपर व्यवहारका विषय है। अतएव वह तत्त्व मन वचन काय की चेष्टाओंसे परे है, और संज्ञी अवस्थामें मनके निमित्त से होनेवाले ज्ञानके द्वारा प्रारम्भको प्राप्त वह तत्त्व अपनी युवावस्थामें सहज ज्ञानके संरक्षणमें रहनेके कारण अपने निमित्त जनककी अपेक्षासे रहित होजाता है। और उस समयका उस तत्त्वरूप परिणमन मतिश्रुतका पर्याय होता हुआ भी मतिश्रुतरूप नहीं है। अथवा मतिश्रुत और सहज ज्ञायक भाव दोनों की सीमा पर अवास्थित है, इस लिये अपेक्षासे किसी रूप भी कहा जा सकता है।

वैसे तो लौकिक अनुभवभी अवाच्य है। मिथ्याका स्वाद अवाच्य है, ज्वरकी पीड़ा अवाच्य है, इष्ट वियोगज आर्त अवाच्य है, इनका अनुभव सर्वहीलौकिकोंको है, अतः इनके विषयमें चर्चा होतेही अपने अनुभवको संभाल लेते हैं, और वाच्य जैसी प्रक्रिया होने लगती है, किन्तु आत्मानुभवके शक्ति प्रायः हैं ही नहीं, उनमें तो उस स्वादकी

प्रतीति करानेवाले वचनही क्या हों, हाँ जो आत्मा-
नुभवके रसिक हैं उनके लिये वाच्य जैसी प्रक्रिया होने
लगती है, वहाँ भी उन्हें स्वसंवेदन गम्य है, वचनगम्य
नहीं हैं।

तत्त्व अवाच्य है, आत्मा अवाच्य है, उन्नति अवाच्य
है, सुख अवाच्य है, परन्तु मोही आत्मा जगतमें वाच्य
बननेकी इच्छासे तन मन का दुरुपयोग कर संक्लेशमें ही
जीवन बिता देते हैं।

हे सुखैषी ! तू अवाच्य है, तब वाच्य होमेकी अर्थात्
यश, कीर्ति, नामवरी आदिकी इच्छाको छोड़, यह सब
महती आपत्ति है। तुझे अपने स्वरूपके विरुद्ध वर्तमान
करतूत जानकर इस अपराधके लिये महान प्रायश्चित्त
स्वीकार करना चाहिये, अपनी शक्ति संभाल, मायामय
खेलोंसे क्या सिद्धि ? होगी, उस अवाच्य परमात्मतत्त्वका
ध्यान कर, उसीको विचार, उसहीके लिये बोल और
अपना सर्वस्व उसीके लियेही समर्पण कर।



मति—श्रुत

(२०)

इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाला ज्ञान मति ज्ञान है । ज्ञानसे जाने हुए पदार्थके सम्बन्धमें जो ऊहापोहात्मक विचारात्मक ज्ञान है वह श्रुतज्ञान है ।

मतिज्ञानकी उत्पत्तिमेंही इन्द्रिय और मनके निमित्त की अपेक्षा है, मतिज्ञान वृत्तिमें इन्द्रिय मन सहयोगी नहीं हैं अतः स्वयं निरपेक्ष हैं । तथा विचारात्मक नहीं, अतः निर्विकल्पक हैं । आत्मानुभव भी निर्विकल्पक है, अतः आगमदृष्टिसे आत्मानुभव मतिज्ञानका विषय है । अभेदग्राही होनेसे मति निश्चय है ।

भेदग्राही विकल्पात्मक होनेसे श्रुत व्यवहार है ।

यद्यपि निश्चयनय विकल्प और व्यवहारनय विकल्प दोनों श्रुतज्ञानके अंश हैं, तथापि निश्चयनय विकल्पका विषयभूत अर्थ विकल्परूप नहीं है ।

श्रुत ज्ञानके विकल्पों द्वारा विकल्प नष्ट करनेमें आत्माकी चतुराई है । विकल्प विकल्प खोनेके लिये यदि है तब तो उसका लक्ष्य शुद्ध है । अन्यथा विद्याएँ विवाद को उत्पन्न करनेवाली होजाती हैं ।

नट रस्से पर चलना सीखता है और सीखनेमें वह

[तत्त्व रहस्य

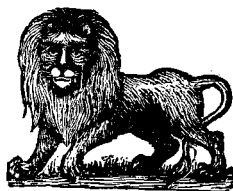
४३]

अपने हाथमें एक बांस लेकर चलता है, जो दोनों ओर लटकेबाधे रहता है, उसका अवलंबन उसके छोड़नेके ध्येय से है। और अभ्यस्त होजाने पर वह नट बांसको छोड़ ही देता है।

स्वानुभव तत्त्व मानसिक शुद्ध ज्ञानका फल है, स्वानुभवकी उत्पात्तिमें मनका अवलंबन होता है, और स्वानुभवके समय भेदग्राहिता न रहनेके कारण निरालम्ब परिणति कहलाती है, तथापि पर्यायदृष्टिमें आत्मा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान इन पांच पर्यायोंमेंसे किसी एक पर्यायमें रहता ही है। अतः वह अवस्था मतिज्ञान सम्बन्धी मानी जाती है।

यह निर्विकल्पानुभवही विर्विकल्पदशाका कारण है, क्योंकि उपादानके सदृशही कार्य देखा जाता है।

शुद्ध आत्म तत्त्वकाही ध्यान रहे इसीमें आत्माका कल्याण है बीचमें जो विकल्प होते हैं वे आत्मस्वरूप नहीं हैं।



निगम और आगम

(२१)

निगम-स्वयं (निसर्गसे) निकले हुए ज्ञानको कहते हैं । और आगम-आ-समन्ताद्गमन = चारों ओरसे याने परके आश्रमसे बोध होनेको कहते हैं ।

निगम स्वानुभव रूप है, और आगम युक्ति-उपदेश आदेश मूलक है । निगममें स्वाश्रित दृष्टि है, और आगम में पराश्रित दृष्टि है ।

सूर्य बादलोंसे ढका है, बादलके हटने पर सूर्यका प्रकाश सूर्यके स्वभावसे व्यक्त होता है, स्वभाव और स्वभावव्यक्तिकी दृष्टि परके आश्रयकी दृष्टि नहीं, क्यों कि परको दृष्टित्व सौंप देने पर स्वभावकी महिमामें हानि होगी, किन्तु स्वभाव महिमा पूर्ण होती है ।

यदि किसीका स्वभाव किसीके सद्भाव या अभाव से प्रकट होने लगे तब तो विश्वस्सांकर्ष होजायगा, तथा इसी अनवस्थासे विश्वका अभाव होजायगा । अतः सिद्ध है कि ज्ञान और सुख जिसको कि सभी प्राणी चाहते हैं, वह खुदहीमें है, बाह्यमें नहीं है, खुदहीसे प्रकट होता है, बाह्यसे प्रकट नहीं होता, केवल बाह्य दृष्टिको मिटानेकी आवश्यकता है, आत्म-दृष्टि स्वयं आजायगी । इस मिटाने

वा बनानेकी प्रक्रियाको भी यह प्राणी स्वयं करेगा ।

यहाँ निगम ज्ञान निश्चय दृष्टिका विषय है, क्योंकि निगमज्ञान पर निमित्तकी अपेक्षासे रहित स्वाश्रितभाव है, निर्मल स्वतन्त्र रूपसे अपने अस्तित्वकर सहित है । आगमज्ञानका भी फल यही है, सुख शान्तिका सर्वस्व यही है, यह स्वतन्त्र भाव पर लक्ष्यके छूटनेपर स्वयं होता है, परलक्ष्यका छूटना स्वलक्ष्य होने पर स्वयं होता है ।

अतः निर्विकार ज्ञायक स्वरूप स्वके लक्ष्यमें ही काल यापन हो जिसके प्रसादसे स्वलक्ष्य रूप सूक्ष्म पर परिणति भी नष्ट होकर लक्ष्य अलक्ष्यकी वृत्तिसे रहित, स्वलक्ष्य वालोंका लक्ष्यभूत यह आत्मा सहजानंदघन हो, दुःखसे निवृत्त होजाय ।



एक—अनेक

(२२)

यह आत्मा निश्चयदृष्टिसे अनादि अनंत ज्ञायकाकार है, अतः उसमें विकल्प न पडनेसे एक है, परन्तु कालादिककी अपेक्षा आत्माके अंश होजाते हैं, अतः व्यवहार दृष्टिसे आत्मामें अनेकता है। ऐक्यदृष्टिमें व्यग्रता नहीं मोक्ष मार्गकी वृद्धि है। परन्तु पर्याय विना द्रव्य रहता नहीं, अतः पर्याय भेद जो व्यवहारके विषय हैं, उनको मिथ्याही माननेवाला साहजिक ऐक्यदृष्टि नहीं कर पाता, सो व्यवहारका विरोध न करकेही ऐक्यदृष्टिमें मोक्षमार्ग पाया जाता है।

अद्यावधि इस जीवने अनेकताका परिचय किया, विषय कषायोंकी व्यग्रता पाई, तृष्णासे बिह्वल रहा, और आत्माकी वह एकता जो न मानने पर भी है, उसपर दृष्टि न रखनेसे दुःखकी संततिही बढ़ाता रहा।

वस्तुभी शुद्ध तभी मानी जाती है, जब वह अपने एकत्व अवस्थाकोही प्राप्त रहे, अन्यथा वह कलुषित (विभावापन्न) वस्तु कहलाती है।

आत्माका निरपेक्ष स्वभाव त्रिकालमें भी एक है। जिसके अनुभव कालमें अनुभविताके विकल्पमें वह स्वयं भी

नहीं, न अन्य भी कोई, अर्थात् वह भी लौकिक निजको विलीन कर देता है—मग्न कर देता है—त्रिकाल स्वभावी अपनसे अभिन्न ब्रह्मत्वमें ।

द्रव्य अनेक होने पर भी अनेक पर लक्ष्य रखने वाला अनेक बनता रहता है, एक पर लक्ष्य रखनेवाला अनेक बननेकी विषम विपत्तिसे दूर हो जाता है, अतः ज्ञान प्रतिभास रूपही मेरे उपयोगका परिणामन हो ।

इस जीवने अनेक स्थानों पर भ्रमणकर-जन्म लेकर विविध पदार्थोंको जाना, विविधदशाओंको आत्मीय माना; परन्तु इस एक निज ज्ञायकभाव स्वरूपको न पहिचाना, जिसके जाने बिना अनेक धर्म बुद्धिसे भी कायकलेश आदि करने पर भी सत्यज्ञान्तिका मार्ग न चल सका । अतः इस अनादि अनंत अचक्ष स्वसंवेद्य चैतन्यस्वरूप निज एकत्वरत भगवानको पहिचानो, जिस से रागद्वेषमोहरहित स्वयंका अनुभवहो, और अनंत शान्ति प्राप्त हो ।



गुण--पर्याय

(२३)

ओ व्यक्त है, या परिणमन है, वह तो पर्याय है।
और उसकी आधारभूत शक्ति गुण है।

गुण नित्य और एक रूप है, परन्तु पर्याय अनित्य और अनेक रूप है।

अनित्यों और अनेकों पर की हुई दृष्टि आस्थिरता और आकुलताकी जननी है। और नित्य एक स्वभाव पर की हुई दृष्टि स्थिरता और अनाकुलताकी जननी है।

गुण सामान्यरूप है, पर्याय विशेष रूप है। विशेष रूपपर पहुंचाया हुआ उपयोग स्थिर नहीं होता, क्योंकि वह विशेष क्षणिक है, परन्तु गुण जो कि पर्यायका आधार है, वह सामान्यरूप है, ध्रुव है। वह जब उपयोगका आश्रय हो तब उपयोगका उस आश्रयसे निराश्रितता होनेके लिये आश्रयाभाव प्रतिबंधक नहीं हो सकता, क्योंकि गुण ध्रुव है, एक स्वभावी है, अपनेमें परिपूर्ण है, अनैमित्तिक है, स्वांसिद्ध है।

जैसे पुद्गलमें यथा-आममें हरा, पीला आदि पर्याय हैं वे पर्यायें रूप सामान्यकी हैं। वह रूप सामान्य क्या है? जो हरा पीला आदि पर्यायोंसे भी रहित नहीं, और

किसीभी पर्याय रूप नहीं, वह तत्त्व सदा है ।

जीवमें मति, श्रुत, अवधि आदि पर्यायें हैं, वे पर्याये ज्ञान गुणकी हैं, वह ज्ञान जो पर्याय (अवस्थाविशेष) से रहित न होकरभी किसी एक पर्यायरूप बर्ही, वह ज्ञान सामान्य क्या है? । किसी विशेषज्ञान रूप बुद्धिको न करके ज्ञाता द्रष्टारूप रह कर, अनुभव किया जावे तब स्थिरताकी अक्षाक्तिसे विकल्प होनेपर ज्ञात होगा कि वह तत्त्व, उसपर उपयोग हो या न हो, सदा रहता है, वह ज्ञायकभाव आकुलता, राग, द्वेष, मोह आदि विकारोंसे रहित है और स्वाश्रित है, अतएव निश्चयनयका विषय है।

उस ध्रुव एक स्वभावी गुण, गुणीमें भी उपयोग के मूलभूत ज्ञान-गुण पर [उसही अवस्था पर नहीं] जब लक्ष्य रहता है तो उसके बलसे अवस्थायी गुण सामान्य के अनुरूप होजावे तो वही शान्ति सुखकी चरम सीमा है, अतः ज्ञातृत्व गुणके लक्ष्य द्वारा अपनेको अविकार रहने रूप पुरुषार्थ होना मार तत्त्व है ।

गुणी—गुण

(२४)

जो गुणोंका समूह स्वरूप आधार है वह गुणी है, और उसकी भिन्न २ शक्तियां गुण हैं।

गुणों पर दृष्टि होने पर उपयोग अपनेमें रहता हुआ भी विभक्त रहता है, भद ग्राहक होता है, अतः गुण दृष्टि व्यवहारनय है।

गुणीकी दृष्टिमें उपयोग एकत्व ग्राहक है, अखंड द्योतक होरहा है, अतः गुणीकी दृष्टि निश्चयनय है।

गुणीके अवलोकनमें आकुलताका आश्रय जो समस्त पर द्रव्य, उसका अनाश्रयत्व है, अतः वह अवस्था सुख स्वरूप है, तथा परम सुखका कारण है। इस अवस्थाके अश्रद्धान, अननुभवनसेही जीव अनादिसे भटक रहे हैं। सब तरहका अर्थ—विकल्प जीवके हुआ, परन्तु यह उपयोग न पाया, यह महान दुर्लभ है।

बहुत प्रकाशका प्रयास सुखके अर्थ जीवने किया किन्तु यह प्रयास न किया जोकि सरल, सहज, स्वाधीन है।

लोकमें विशेषावस्थापन गुणही गुण कहे जाते हैं। तथा विभावस्थापन भी गुण, गुण कह दिये जाते हैं।

तब उन गुणोंसे रहित तत्त्व निर्गुण ब्रह्मसे संज्ञित होता है, फलतः निर्गुण ब्रह्मका विचार गुणीकीही कल्पना है।

ब्रह्म अनेक गुणात्मक है, उन अनेक गुणोंमें ज्ञान गुण प्रधान है, जिसके प्रसादसे अन्य गुणोंका अस्तित्व निश्चित है। तथा स्वयंका भी। उस प्रधान गुण द्वारा जब वही स्वयं ज्ञेय रहता है तब गुणीका अनुभव स्वयं है और जब गुणके विकल्पोंको न करके गुणी ज्ञेय होता है, तब भी वह प्रधान गुणका शुद्ध विकास है। अतः गुणी और गुणोंमें अभेद है। तथापि भिन्न दृष्टि कर जब गुणी ज्ञात करे तब वह निश्चयका विषय है। और गुणोंको समझे तब वह व्यवहारका विषय है।

इस जीविने अनादिसे अबतक अनेक कल्पनाओंको ज्ञानका आखेट (शिकार) बनाया, परन्तु शुद्ध गुणीका अनुभव नहीं किया, अतएव अनेक विषम क्लेशोंका आधार बना।

अब गुणी कहो, निर्गुण ब्रह्म कहो, शुद्ध ज्ञान कहो, इसीका अनुभव करो, यही कल्याण है, सुख है, शान्ति है।

नेति (निषेध)—विधि

(२५)

जैसे शुद्ध तत्त्व अशुद्धताके प्रथक् होनेसे प्रकट होता है, इसीतरह शुद्ध तत्त्वका शुद्ध बोध, यावन्मात्र मात्र वर्णन है, उतने मात्रका निषेध होनेसे प्रकट होता है। विधिके बाद निषेध होना इसका उपाय है। अतः नेति निश्चयनयका विषय है और 'विधि' व्यवहारनयका विषय है।

व्यवहार प्रतिषेध्य है, निश्चयनय प्रतिषेधक है— अर्थात् व्यवहारका निषेध निश्चयनयका वाच्य है। क्योंकि व्यवहारनय जो कुछ कहता है उतना मात्र पदार्थ का स्वरूप नहीं है।

पदार्थ तो अखण्ड है—सामान्य विशेषात्मक है, अनन्तधर्मात्मक है, परन्तु वर्णनमें भेद अंश व कुछ गुण ही अवेंगे, इसलिये विधि व्यवहारनयका विषय है और "वह नहीं" ऐसा निषेध, और साथही अखण्ड पूर्ण वस्तुका लक्ष्य, निश्चयनयका विषय है।

व्यवहारनय पदार्थकी विशेष शक्तिको देखकर उसकी विधि करता है और निश्चयनय अखण्ड पदार्थको देखकर विशेष शक्तिकी विधिकी निषेध करता है—कि

निश्चयसे पदार्थ इतना नहीं है ।

यहां यह पूछा जा सकता है कि जीव अखण्ड है । अनन्तगुणात्मक है । इस प्रकारसे निश्चयनयका विषय विधि बन सकता है । परन्तु यह यहां ठीक नहीं, क्योंकि लक्ष्य लक्षण, विशेष्य विशेषणके भेदसे यह भी व्यवहारनय है । इस ही कारण निश्चयनय वर्णनात्मक नहीं हो सकता, और न निश्चयनयका उदाहरण ही कुछ हो सकता है ।

निश्चयनय निर्विकल्प है, और व्यवहारनय सविकल्प है । यद्यपि नय सभी विद्वत्पात्मक होते हैं, यहां भी व्यवहारनयने विधिका विकल्प लिया तो निश्चयनयने निषेधका विकल्प लिया, फिर भी वह नेति निर्विकल्पसा है, इसीलिये तो निश्चयनय एक है । उसका विषय एक है, और व्यवहारनय विद्यात्मक होनेसे उसके विषय अनेक हैं ।

जैसे ज्ञान गुण है, सुख है, अस्तित्व है आदि विधि अनेक हैं । उस प्रकार उन विधियोंका निषेध अनेक नहीं, वह तो एक रूप ही है । सोनामें अन्य धातुओं का सम्बन्ध तो अनेक है—तांबासोना, चांदीसोना, जस्तासोना आदि, पान्तु जो अन्य पदार्थके सम्बन्धसे

रहित जो सोना है वह जैसा चांदी रहित है, वैसा जस्ता रहित है, वैसा तांबा रहित है। सबका निषेध (न) है, उसमें क्या विशेषता है ?

जो मनुष्य व्यवहारनयका अवलम्बन लेकर पदार्थों की विशेष शक्तियोंका बोध कर पृथक् शक्तियोंका निषेध करते हुए अखण्ड वस्तुको लक्ष्यमें लेकर ध्याता ध्येयके विकल्पको दूर कर अभिन्न स्वानुभवी होता है, वह शान्त, सुखी, शुद्ध, निर्विकार होजाता है ।



निरुपाधि=सोपाधि

(२६)

किसी अन्य उपाधि व निमित्तके बिना जो सहज भाव होता है वह निरुपाधिभाव है। तथा जो किसी उपाधिके निमित्तसे असहजभाव होता है वह सोपाधिक-भाव है।

राग, द्वेष, मिथ्यात्व आदि भाव, एवं इन्द्रियज ज्ञान स्मरण, तर्क, अनुमान आदि बोध सब सोपाधि भाव है। ये पराश्रित हैं, अंशरूप हैं, अनेक रूप हैं, अतः व्यवहार दृष्टिसे ये आस्तित्ववान् हैं। ये उपाधिज भाव हैं, अतः निराकृतता स्वरूप नहीं हैं।

उपाधि-उप+आधि, जो मानसिक व्यथाके पास हों वह उपाधि है। उपलक्षणसे सभी भाव जो असहज हैं वे उपाधिज हैं-उपाधि रूप है।

वेस्तुं उपाधि बिना अकेलाही सुंदर है। परन्तु मोही प्राणी उपाधिसे दुख पाते हुएभी उपाधिको चाहते हैं। ज्ञानी पुरुष, जैसे लौकिक उपाधिको हितरूप न समझ कर उपाधिको नहीं चाहते, इसी तरह अंतरंग उपाधिका भी कभी आदर नहीं करते।

वास्तवमें बाह्य उपाधिको उपाधि कहना उपचार है, अंतरंग भावही उपाधि है। कोई पुरुष बाह्यमें परिग्रह को छोड़कर मान्यता करे कि मैंने उपाधि छोड़दी, तो अभी उसने निरुपाधि भावही नहीं पहिचाना। निरुपाधि प्रति-भासमात्रके लक्ष्यसे उपयोगमें बाह्य वस्तु तो छूटी ही है परन्तु बाह्य वस्तुके ग्रहण रूप विकल्पमय जो उपाधि है वह भी स्वयं छूट जाती है।

अरे ! देखो बड़े कष्टकी बात है, जगत सदा उपाधि भावमें मग्न रहता है। विचार, वाणी, चेष्टासे भिन्न शुद्ध ज्ञान मात्र अपनेको अनुभव करनेका विचार तक भी नहीं लाता, और कष्टप्रद विचारों, विषयेच्छाओंमें मग्न रहकर आकुलित होता हुआ भी उपाधिभावका आदर ही किसे जा रहा है।

ये रागद्वेष आदि सोपाधिभाव अशुचि हैं, दुःख स्वरूप है, दुःखके कारण हैं, आत्माके स्वभावसे विरुद्ध हैं। निरुपाधि भाव स्वयं शुचि हैं, स्वच्छ हैं। इनमें दुःखकी छाया भी नहीं। अनन्त शान्तिका तार्त्विक कारण हैं, आत्माके स्वभाव रूप हैं।

इन दोनों भावोंके भेद विज्ञान बिना अनन्त चेष्टाओं से भी आत्मा लेशजात्र भी सत्य शान्ति नहीं पा सकता।

सोपाधि भाव हैं, इनको मिथ्या नहीं कहा जा रहा, परन्तु आत्माके स्वभावसे उल्टे हैं। अतः मिथ्या ही तो हैं, इनका आदर छोड़ो वे तो अपने आप मिट जावेंगे। लोकमें भी जिस पुरुषका जहाँ आदर न हो वह वहाँ कब तक टिकता है, अतः हे सुखैर्षी ! निरुपाधि भावका ही आदर हो, और वही लक्ष्य हो ।



तत्—अतत्

(२७)

यह निजतत्त्व (ज्ञान) अंतरंगमें प्रकाशमान ज्ञान-स्वरूप करि तत्स्वरूप है। और ज्ञानकी स्वच्छताके कारण विषयभावको प्राप्त सर्व बाह्य जगत्की अपेक्षा बाह्य जगत् के द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप न होनेसे अतत्स्वरूप है। अथवा उपबोगके २ परिणमन हैं—१. ज्ञानाकार, २. ज्ञेयाकार। उनमें जो ज्ञानकी निजी त्रैकालिक एकाकार स्वच्छता है वह तो ज्ञानाकार है, तथा जो ज्ञानमें आभास है, जिसका विषय ज्ञानातिरिक्त भाव—अर्थ है वह आभास ज्ञेयाकार है। अर्थात् अर्थोंका ग्रहण ज्ञेयाकार है। सो वह निज तत्त्व ज्ञानाकारकी अपेक्षा तत्स्वरूप है, और ज्ञेयाकारकी अपेक्षा तत्पर्यायमात्र न होनेसे त्रैकालिक स्वरूपकी दृष्टिमें अतत् स्वरूप है।

वस्तु निश्चयव्यवहारद्वय विषयात्मक है—तत् अतत् रूप है। यहाँ आत्मतत्त्वको ज्ञानमुखेन तत्स्वरूप जो अनुजांवी, सद्भावत्मक, त्रैकालिक, तन्मय गुण उसके निर्देशसे निर्दिष्ट किया है वह तो निश्चयनयका विषय है। और बाह्य जगत् व ज्ञानातिरिक्तभावोंका ज्ञानमें नास्तित्व है। उन स्वरूपसे ज्ञान नहीं है। इसतरह अनंत परभावोंका आश्रय

[तत्त्व रहस्य

करके ज्ञानमें प्रतिजीवीगुण-अभावात्मक धर्मका वर्णन है वह व्यवहारनयका विषय है ।

तत्त्व तदतदात्मक है । यदि तत्त्वरूप ही हो और अतत् रूप न हो तो, सर्वकी अपेक्षा तत् होगा तब त्वस्वरूपका ही नाश होजायगा । और इस तरह कोई भी स्वरूप न रहेगा । ब्रह्माद्वैतैकान्त व संचित्यद्वैतैकान्तमें तत् अंशकी ही मान्यता है, अतत् अंश न रहनेसे ज्ञानतत्त्व सदैवा-दानिक होजायगा, तब चैतन्य त्वरूप कुछ भी व्यवस्थित न रहा । तथा यदि तत्त्व अतत् अंशमयही हो किसीभी अर्थके गुणादिके स्वरूपभेदसे अत्यन्त भेद करता ही रहे और गुण, क्रिया, सायान्य, विशेष सबको भिन्न प्रदेशी मानलें और अपने पिण्डरूपसे होनेवाले तत् अंशको न स्वीकार करें तो विराधार, अपिण्ड, पृथक् पृथक् निरपेक्ष गुण गुणी ज्ञानाकार ज्ञेयाकार आदि सभी कुछ भी अस्तित्व न रख सकनेके कारण नष्ट होजायगे । तत्त्व न केवल तदात्मक है और न केवल अतदात्मक है । अतः उस अनेकान्ततत्त्वकी श्रद्धा करके सहज स्वभावसेही पर रूप के निषेधक निब्रभावस्पर्शी निजतत्त्वमें स्थिर होकर ज्ञानी जब अनंतदुःखके अभावमय एवं सहजस्वरूपके सद्भावमय परमशान्तिको प्राप्त होते हैं ।

स्थूल तात्पर्य यह है—कि कोई भी वस्तु अपनेही द्रव्य क्षेत्रकालभावचतुष्टयसे तत्स्वरूप है और उससे भिन्न जो अनेक पदार्थ हैं उन सबके द्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयसे अतत्स्वरूप है। मनुष्य मनुष्यही है, सिंह सर्प नहीं, इस प्राकृतिक व्यवस्थामें तत् अतत्का रहस्य अन्तर्निहित है। तत् एक निजरूप पर दृष्टि रखाता है अतः तत् निश्चयवय का विषय है। और अतत् अनेक पर पदार्थोंकी अपेक्षायें-आलंवन रखाकर नास्तित्वधर्मका बोध कराता है। अतः अतत् व्यवहारनयका विषय है। यहाँ यह तत्त्व ग्रहण करना चाहिये कि मैं सर्वसे अतत्, स्वसे तत्, एक ज्ञानाकार अनाद्यनंत स्वसंवेद्य तत्त्व हूं। इसकी शोभा, महिमा इसी स्वरूपके उपयोगसे है, अतः निजोपयोगी रहो।

समाप्तोऽयं खण्डः ।





॥ नमः सिद्धाय ॥

अध्यात्मयोगे पूज्य श्री १०५ लुल्लक-
मनोहर वाणि "सहजानन्द" प्रणीता

“सहजानन्दगीता”

मूल श्लोकपाठः ।

रागाभावः स्वयं स्वाप्तावाप्तस्वो हि स्वभाववत् ।

स्वे स्वं परं नमस्कृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥

यादृक् सिद्धात्मनो रूपं तादृग्रूपं निजात्मनः ।

आन्त्या क्लिष्टस्तु लोकेऽद्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥

विश्वतो भिन्न एकोऽपि कर्त्ता योगोपयोगयोः ।

रागद्वेषविधाताऽऽसम्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥

न करोमि न चाकार्षम्, न करिष्यामि किञ्चन ।

विकल्पेनैव त्रस्तोऽस्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥

स्वरागवेदनाविद्वश्वेष्टे स्वस्यैव शान्तये ।

नोपकुर्वे च नो शान्तिः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥

याति नेतो न चायाति जातुचित्किञ्चिदन्यतः ।

सहजानंदगीता

[६२]

प्रथमः खण्डः

खिन्नो दीनाधिकं मन्ये १...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥
स्वातन्त्र्यं वस्तुनो रूपं तत्र कः किं करिष्यति ?
हानिर्मे हि विकल्पेषु...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥
ज्ञाता दृष्टाहमेकोऽस्मि निर्विकारो निरञ्जनः ।
नित्यः सत्यः समाधिस्थः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥
अमरोऽहमजन्माहं निःशरीरो निरामयः ।
निर्ममो नैर्जगत्योऽहं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥
नोपद्रवो न मे द्वन्द्वो निर्विकल्पोऽपरिग्रहः ।
दृश्यः कैवल्यदृष्ट्याऽहं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०॥
निर्वशश्चेतनावंशो निर्गृहश्चेतनागृहः ।
चेतनान्यन्न मे किञ्चित्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
निर्मित्रश्चेतनामित्रो निर्गुरुश्चेतनागुरुः ।
चेतनान्यन्न मे किञ्चित्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
निर्वित्तश्चेतनावित्तो निष्कलश्चेतनाकलः ।
चेतनान्यन्न मे किञ्चित्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥
निष्क्रीर्तिश्चे नाक्रीर्तिर्निष्कृतिश्चेतनाकृतिः ।
चेतनान्यन्न मे किञ्चित्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥
जीविताशा प्रतिष्ठाशा विषयाशा जनेषणा ।
आभिर्मुग्धो विनष्टोऽहं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥

१—किसी किसी श्लोकमें तीसरे खण्डके बाद अतः, च, साम्प्रतं आदि शब्दोंका यथायोग्य अभ्याहार करना चाहिये, अथवा तीसरे खण्डके बाद अभ्यात्मवैलीसे विश्राम लेकर चौथा खण्ड पढना चाहिये ।

भवेऽप्यसिन् मुहुर्नाना दुःखं प्रापं क्व रक्षकः ?
 को भूतः कस्य भूतोऽहं ? ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥
 दुस्त्याज्या चेद्रतिस्त्यक्ता मृत्यक्तकुटुम्बिनाम् ।
 स्वातन्त्र्यं स्यानि किं स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥१७॥
 ज्ञात्वा रागफलं दुःखं जीवानां भ्रमतामिह ।
 रागं मुञ्चानि नो मुक्त्वा ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥१८॥
 दृष्टारं स्वयमात्मानं पश्य पश्य न चेतस्मृ ।
 तिष्ठानि निर्विशेषं चेत् ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥
 अहंकारादिना द्रष्टुः कर्त्ता भोक्ता भवेन्न मे ।
 ममत्वाऽन्तर्भावोऽपि ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥
 बाञ्छन् गृह्णन् त्यजन् हर्षन् शोचन् कुप्यन्न वर्तते ।
 यत्रास्ते तत्स्वसाम्राज्यं ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥
 यदाऽज्ञता तदासीन्मे प्रीतिर्भोगे स्वविभ्रमात् ।
 दीनवज्ज्ञोपि धावानि - स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥
 ज्ञातृत्वं मयि सर्वेषु स्वायत्तं साम्यसंयुतम् ।
 कस्य कः ? ज्ञातृनां दृष्ट्वा. स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥
 यत्रैव भासते विश्वं सोऽहं विश्वं न साकृतिः ।
 ज्ञाता दृष्टा स्वतन्त्रोऽहं ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥
 स्वमित्रं न हितं किञ्चिदद्वैतोऽहं हिते क्षमः ।
 द्वैताश्रिता मुधा बुद्धिः ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥

इति प्रथमान्विक्रमः

सहजानन्दभावः कक्क ! मे रागादिवैरिणः ?

सहजानन्दसम्पन्नःस्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

प्रयत्नो वाञ्छुया तस्माद्वातो यन्त्रं प्रवर्तते ।

स्वे तान्यारोप्य किं दुःखी ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

पङ्गोर्दृष्टिर्यथान्धे न तथा स्वस्यैव नो तनोः ।

दर्शनं मात्रमस्मत्प्रमात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

यस्मिन् ज्ञानमये यत्ने मत्तपाषाणवत्क्रमात् ।

विकल्पो नापि तत्रान्ते...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

आत्मजागरणं यत्र चाभावे लोकजागृतिः ।

अहं सज्ञानमात्रोऽस्मि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥

अहं स्वं जन्ममृत्पादि सुखं दुःखं नयाम्यहम् ।

मुक्तौ नेता गुरुस्तस्मात्....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥

देहे बुद्ध्या वपुः स्वस्य बुद्ध्या स्वः प्राप्स्यते मया ।

ज्ञानमात्रमतिर्मेऽस्तु...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥

महान् स्वप्नान्तिजः क्लेशो भ्रान्तिनाशेन नश्यति ।

याथात्म्यं श्रद्दधै तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥

देहे स्वबोधता दुःखं सुखं स्वे स्वस्य भेदनम् ।

सुखं स्वायत्तमेवातः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

तिर्यङ्नारकदेवानां देहे तिष्ठन् पृथक् तथा ।

नृदेहेऽपि नरो नाहं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥

अन्धोऽन्यत्वेन दुःखं स्वः स्वत्वेन सुखपूरितः ।
यतै स्वदृष्टितः स्वार्थे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी वयम् ॥३६॥
आत्मलामस्पृहैका मे तदन्यत्रास्तु मा गतिः ।
नश्यत्वन्तर्जगच्चादः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥
यत्र चित्तस्य न क्षोभः स्वेवैकान्ते वसाम्यहम् ।
जनव्यूहेहितं किं मे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥
हितैषी हितयन्ताऽस्मि हितज्ञोऽस्मादहं गुरुः ।
अस्यैव साक्षितायां शं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी वयम् ॥३९॥
ज्ञानं स्वमेव जानाति तदा स्वस्वाभिता कुतः ?
अहमद्वैतबुद्धिः सन्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥
ज्ञप्तिमात्रदृष्टायां न दुःखं स्यात्कर्मनिर्जग ।
सैषोऽहं ज्ञप्तिमात्रोऽतः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥
यदुपासै तदाप्तिः स्यादतः शुद्धात्मतां भजे ।
शुद्धाप्तिः शान्तिसम्पत्तिः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥
संयम्याक्षाणि मृक्त्वा च कल्पनां मोहसंभवाम् ।
अन्तरात्मस्थितः शान्तः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥
भावनाप्रभवः कलेशो भावनातः शिवं सुखम् ।
भावयेऽतः शिवं स्वं शं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥
सारे देहिषु सर्वेषु व्यक्ताव्यक्ते बुधाज्ञयैः ।
ज्ञानमात्रे चिरं तिष्ठन्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥

सदृष्टिज्ञानचारित्रैकत्वं मुक्तिरदः सुखम् ।

तच्च ज्ञानमयं तस्यात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥

तत्त्वतो ज्ञानमात्रोऽहं क्व विकल्पावकाशता ?

ततोऽहं निर्विकल्पः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥

स्वैकत्वस्य रुचिस्तस्माद् भव्यता निश्चयेन मे ।

अस्वभावे कथं वृत्तः... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥

अद्वैतानुभवः सिद्धिर्द्वैतबुद्धिरसिद्धता ।

सिद्धेरन्यश्च पन्था न... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४९॥

स्वैकत्वं मंगलं लोके उत्तमं क्षरणं महत् ।

रथादुर्गं तदेवास्ति... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५०॥

इति द्वितीयाह्निकम् ।

स्वैकत्वमौषधं सर्वक्लेशनाशनदक्षकम् ।

चिन्तामणिस्तदेवास्मिन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५१॥

ज्ञायकत्वे विकारः क्व रागादेः सन्निधावपि ।

सोऽहं ज्ञायकमात्रोऽस्मि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५२॥

दुःखी किं ? विवशः किं ? मेऽत्रैव न्यायोविधिर्जगत् ।

सुखागारोऽप्ययं तस्मास्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५३॥

ज्ञानपिण्डोऽन्यमिन्नोऽहं निर्विकारी स्वभावतः ।

स्वतन्त्रः सहजानन्दः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५४॥

निज चेष्टाफलं ह्यन्ये दृष्टिः संसार उच्यते ।

विज्ञाय तत्त्वतस्तत्त्वं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५५॥

अनन्तज्ञानसौख्यादिगुणपिण्डोऽपि तृष्णया ।

भ्रमाणि दीनवत्कस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५६॥

ज्योतिर्मयो महानात्मा वञ्चितोऽक्षविषैरहम् ।

सम्बन्धमात्रम्यैस्तु...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५७॥

पूर्णदृग्ज्ञानसत्सौख्यी सिद्धात्मा देशतोऽप्यहम् ।

पूर्णश्च भवितुं शक्यः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५८॥

निर्द्वयाज्ञानजान्धं स्वं दृष्ट्वा ध्यानाग्निना विधिम् ।

दहानि निष्कलङ्कः सन्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५९॥

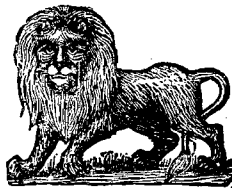
रागादि पीडयेत्तावन्नाविष्टो ज्ञानसागरे ।

अतो ज्ञानेऽवगाह्यहं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६०॥

स्वभावः सिद्धतैवे तु पर्यायाः कर्माविक्रमाः ।

ततः स्वविक्रमं कुर्या...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६१॥

समाप्तोऽयम् प्रथमोऽध्यायः ।



अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

यः संयोगज्ञया दृष्टया भाति संयोगजः किल ।

तौ नाहं मे न तौ हित्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥

नाहमन्यत्र नान्यस्य न नष्टो न बहिर्गतः ।

किन्तु ज्ञायकभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥

विषवद्विषयाँस्त्यक्त्वा पृथक्कृत्य वपुर्धिया ।

स्वात्मनमेव पश्यानि० स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥

न मे वर्णो न मे जातिर्न मे देशो न विश्रहः ।

नेषामहं न्वहं त्वेकः० स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥

कल्पना यत्र भासन्ते सोऽहं नास्थिरकल्पनाः ।

अद्भामृतं पिबानीदं० स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥

भिन्नदर्शी भवेद्भिन्नः संकरैषी, च संकरः ।

तत्त्वतः सर्वतः प्रत्यक्० स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥

न मे लोको न चाङ्घातोऽनष्टो नष्टे विकल्पिते ।

तदित्थं ज्ञानमात्रोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥

देहे स्थात्वापि न स्पृष्टो नानाकारो निराकृतिः

ज्ञानन् सर्वं न सर्वोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥

विभक्तैकत्वबोधस्य न स्पर्शः पुण्यपापयोः ।

सैववस्तुस्थितिर्मेऽस्तु० स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥

नानामतानि तत्त्वेषु विवादे न प्रयोजनम् ।

मुक्त्वाऽन्यत् स्वंतुपश्येयं० स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०॥

सहजानन्दगीता

[६६]

प्रथमः खण्डः

हर्षादिवासनाजन्यमौषाधिकविनश्यत् ।

तद्भिन्नं स्वं प्रपश्येयं..स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥

वासनान्ते न संसारः संसारत्याग एव हि ।

स्वदृष्ट्या वासनान्तोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥

कामे बोधरिषावर्धेऽनर्धे तन्मूलधर्मके ।

त्यक्त्वादारं स्वमर्धेयं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥

सुखारिर्दुर्गतिर्देन्यं पापं तद्धेतुकं ततः ।

दरं वसानि पापेभ्यः..स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥

इति तृतीयाह्निकम् ।

कार्यहेतुर्न चान्यन्मे भाति विश्वं स्वसत्तया ।

ज्ञानं सुखं परस्मान्न..स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥

जीवो दृश्यो न यो दृश्योऽजीवो वा कोऽपि मे न हि ।

कस्मै सीदानी न श्यानि..स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥

परः कोऽपि हितो मे नो यो हितोऽहं न मूर्तिवः ।

चिन्तने कस्य न श्यानि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥

यावत्प्रवर्तनं लोके तत्तेषामज्ञताफलम् ।

निवृत्तिर्ज्ञानसाम्राज्यं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥

कर्मकर्त्रादिकल्पाः स्युर्देहादिष्वनुबन्धिनः ।

पूर्यते तैर्न कश्चिन् मे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥

इच्छा बन्धो न मे हानिर्ज्ञानमात्रस्य दर्शिनः ।

पूर्यते ज्ञानमात्रेण...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥

। न ना चेष्टै न मे लाभश्चेन्न चेष्टै न मे क्षतिः ।

ज्ञानमात्रैव चेष्टा मे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

तत्त्वज्ञो जायते मूर्खो लुब्धैस्त्यक्तामिदं छलात् ।

शान्तिस्तु तत्त्वतस्तत्त्वे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥

तत्त्वज्ञ आलसो भूतो लुब्धैस्त्यक्तामिदं छलात् ।

नैकैर्मय एव शान्तिस्तु...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥

मनो मे न स्वभावोऽहं मनःकार्यं न तत्फलम् ।

बोधाधिकमसत्स्वेऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

यत्रैव भाति रागादिः सोऽहं रागादिर्नैव हि ।

रागादौ निर्ममस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥

अन्यथानुपपत्तेः स्याद्रागादेः कर्म कर्तृ हि ।

तत्कर्म व्याहृतिर्ज्ञप्तौ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

जागृतिः अयं पानमत्तिर्वाग्दर्शनं श्रुतिः ।

ज्ञप्तिक्रियस्य किं कृत्यं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

सङ्कल्पेऽजनि संसारो ज्ञाने नश्यति कल्पितः ।

निर्विकल्पे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

परायत्ताः परार्थाः स्वायत्तं ज्ञानस्य वेदनम् ।

पराप्तये न धावानि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

सहजानन्दगीता

[७१]

प्रथमः खण्डः

राज्ये क्लेशः क्षणं यत्नो भिक्षावृत्तौ तु तत्त्वतः
तत्त्वं हि नोभयत्रास्ति...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥
परस्थितेः परं स्थानं पराभावा हि स्वास्यतेः ।
तत्त्वं तु नोभयत्रास्ति...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥
जनौघे बाह्मनःकर्म चैकाग्रयाऽसरो बने ।
तत्त्वं तु नोभयत्रास्ति...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥
ज्ञानदृष्टौ क्व मोक्षाच्चा क्वार्थः कामः क्व धर्मकः ।
सहजानन्ददृष्टिः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥
किं कृत्वं क्व रमै चित्तमस्थिरं चाहितं जगत्
ज्ञानमात्रे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥
कर्तृत्वं न स्वाभावो मे क्रिया एता उपाधितः ।
वातवच्छुष्कपर्णस्य-स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥
वृत्ति दृष्टौ तपो व्यर्थं निवृत्तौ न श्रुतिः कृतः ।
ज्ञाप्तिरेव निवृत्तिश्च...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥
परे दृष्टे न दृष्टः स्वः दृष्टे न विकल्पना ।
अविकल्पेन सन्तापः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥
मयि सौख्यं मया मे भूत् ज्ञाप्तिभिन्नं न साधनम् ।
आगृह्णानि कथं वृत्तौ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥
नाहं देशो न जातिर्मे न स्थानं न च रक्षकाः ।
गुप्तं ज्ञानं प्रपश्यानि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥

इति चतुर्थाह्निकम् ।

कान्योऽहं क च चिन्ता क कैक प्रगृत्यं क शुभाशुभम् ।

इमे स्वस्माच्च्युतेस्तर्काः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥

को दूरे कश्च सामीप्ये को बाह्ये को मयि स्थितः ।

ज्ञानमात्रमहं यस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥

सञ्चितं कर्म चेदस्तु तेन स्पृष्टोऽपि नोद्वहम् ।

अद्वैतोऽहमयं तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥

ग्रामे वने निवासो मे विकल्पोऽनात्मदर्शिनः ।

स्वे ज्ञाने ज्ञेय वासोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥

यातायाताणुपुञ्जेऽयं देहोऽहं तु स्थिर परः ।

मै प्रवेशो न कस्मिंश्चित् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ४४॥

व्यवहारे परावस्था निश्चये ज्ञानमात्रता ।

ज्ञानमात्रे परा ज्ञान्तिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥

रागादिवर्णतः प्रत्यग्ज्ञाते प्राप्स्यामि च शिवम् ।

विकल्पो विमलकृद्यातु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥

देशो देहश्च भिन्नात्मा विकारस्तत्संयोगतः ।

सर्वे भिन्नाः स्वतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥

नाकारो न विकल्पो न द्वैविध्यं न विपत्तयः ।

स्वः स्व एव शिवस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥

कष्टे प्राणानुपेक्षन्ते ज्ञानं रक्षन्ति योगिनः ।

ज्ञानं ज्ञाय प्रियं तत्स्वे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४९॥

ज्ञानमस्तीति कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च ततोऽन्यके ।

त्रिकालेऽपि न तत्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५०॥

दृश्यं न दर्शकस्तत्त्वमुभे संयोगजे दृष्टे ।

किन्तु ज्ञायकभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५१॥

यदा देहोऽपि नैवाहं नृश्रयादेस्तर्हि का कथा ।

ज्ञानमेवास्ति देहो मे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५२॥

यत्र वासो रतिस्तत्र तत्रैकत्वं ततो निजे ।

उषित्वा ज्ञानदृष्ट्याहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५३॥

यज्ज्ञानेन जगन्मन्ये तत्र मे किं तदादृदिः ।

स्वादृतिः सा स्ववृत्तिर्हि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५४॥

कः कस्य कीदृशः केति देहमप्यविशेषयन् ।

सहजानन्दसम्पन्नः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५५॥

समाप्तोऽयं द्वितीयोऽध्यायः



अथ तृतीयोऽध्यायः—

नश्वरे चेन्द्रियाधीने सुखे सारो न विद्यते ।

कारतिस्तत्र विद्वस्य...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥

यतो ऽन्ते क्लेशदाः सर्वे सम्बन्धा, विपदास्पदाः ।

ततः संगं परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥

यौवनं जरया व्याप्तं शरीरं व्याधिमंदिरम् ।

समृत्युं जन्म कः सारः ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥

येषां योगो वियोगो हि नियमेन भविष्यति ।

तेभ्यो नु किं मुधाऽखिन्दम् "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥

फेनपुञ्जेऽपि सारः स्यान्न तथापि शरीरके ।

विरज्य देहस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥

विषं पीत्वाऽपि जीवेन्नेन भुक्त्वा विषयं सुखी ।

विरज्य भोगतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥

देही कश्चिन्न यो मृत्युं न प्राप्तस्तर्हि को मम ।

त्राता स्ववृत्तिरेवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥

बालवृद्धयुवग्रासे यमस्य समता भवेत् ।

साम्यपुञ्जस्य मे किं न "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥

रागद्वेषौ हि संसारः संसारो दुखपूर्णिमः ।

संसारतो विरज्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥

संसारजो हि पर्यायः संसार उपचारतः ।

त्यक्त्वा तन्मूलसंसारं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०॥

यन्न रागवच्चः प्रापं योनिदेशकुलं न तत् ।
मुक्त्वा रागमतः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
कीटो भूयो नृपः कीटो जायते विषमे भवे ।
स्वास्थ्यमेव स्थिरं स्थानं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
प्राप्ता ये दुर्गतेः क्लेशाः भ्रान्त्या भ्रान्त्वा मयैव ते ।
मुक्त्वा भ्रान्तिमतः कालात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥
आपत्पूर्णं भवे ह्येको आम्बामि तत्त्वतो निजे ।
उपयोगे ततः स्वस्थः, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥
देहान्तरं व्रजाम्येको देहमेकस्त्यजाम्यहम् ।
परदृष्टिं हि तत्स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥
वियोगयोगदुःखादौ किञ्चिन्मित्रं न तत्त्वतः ।
स्वाविष्टः स्वस्य मित्रं स्वः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥
यदम्येषां कृते चेष्टै, एको भुञ्जै हि तत्फलम् ।
स्वस्मै तत्रापि चेष्टाक्षीत्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥
इति पञ्चमान्हिकम्

कारणं सर्वदुःखानां स्वज्ञानाभाव एव हि ।
येनैको वञ्चितस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥
असंकृतेहिं वस्तूनां स्वस्य स्वेनैव बद्धता ।
स्वे क्षणे बद्धता नातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥

बन्धैकत्वेऽपि देहादेर्भिन्न एव स्वभावतः ।

परभिन्नात्मवृत्तिः श्रं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥

देहादेव यदा भिन्नः कथं बन्धुभिरेकता ।

विभक्तस्य सदा सौख्यं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

देहोऽणुव्रजजः स्वात्मातीन्द्रियो ज्ञानविग्रहः ।

स्वात्मन्येव स्थिरस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥

यैरयैर्मम सम्बन्धस्ते स्वरूपात्पृथक् सदा ।

तत्स्वदृष्ट्याऽसुखं तेन-स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥

पलास्थिरुधिरे देहे स्वबुद्ध्या क्लेशभागभवेत् ।

तत्र रागे न को क्लामः ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

देहो न शुष्यते सिन्धोर्वारिमिः शुष्यते त्वयम् ।

स्वात्मा स्वात्मधिया तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥२५॥

दुःखाभयो हि देहोऽयं देहतो न्यसनानि वै ।

विरज्य देहतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

निन्द्ये देहोऽप्युषित्वात्मसिद्धिः शक्या वसन्नपि ।

विरज्य देहतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

मनोवाक्कायिकी चेष्टेच्छातो दुःखं ततस्ततः ।

हृत्तेच्छां प्रज्ञया भित्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

शुभः कषायमान्द्येनाऽशुभस्तीव्रकषायतः ।

अकषायेन शं नित्यं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

मनोवाक्कायवृत्तीनां निवृत्तेरुपदेशनम् ।

स्वस्थित्यै स्वस्थितौ शान्तिः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥

मनोवाक्कायवृत्तिश्चेच्छुभैवास्तुपदेशनम् ।

स्वस्थित्यै स्वस्थितौ शान्तिः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥

शुद्धोपयोगलक्ष्येनात्मा स्वयं रच्यते तदा ।

स्वस्मिन् स्वमेव वेत्त्यस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥

नश्यते निर्ममत्वेन रागद्वेषौ ततः सुखम् ।

निर्ममत्वं विचिन्त्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥

श्रुत्स्त्वेदं कल्पनाजालं मनोऽदो निश्चलं भवेत् ।

न क्लेशो निर्विकल्पः सन्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

ज्ञानं ज्ञानं न कोपादि तत्तज्ज्ञानं न सुस्फुटम् ।

स्वस्मिन् ज्ञानं स्थिरीभूय स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥

तप इच्छानिरोधोऽतः कर्मनिर्जीर्यते ततः ।

तपस्तप्त्वा च शुद्धः सन्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥

अग्निना काश्चनं यद्वत् तप्यमानस्तपोऽग्निना ।

शुद्धीभूय लभै स्वास्थ्यं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥

विरागपरित्यागं मे जायते कर्मणां क्षयः ।

रागभिन्नमतो विन्दन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥

बाह्यं तपोऽपि नाश्नायाशाया यस्मात्तपस्यपि ।

आश्नानाशाय सेवै स्वं, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥

धर्म उद्धारकस्त्राता पावको बान्धवो गुरुः ।
 सोऽहं रागादिकं मुक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥
 धर्मो वेद्वे न यात्रायां बन्दने न च मन्दिरे ।
 धर्मे ज्ञप्तिमये तिष्ठन्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥
 मोहश्चोभौ न यत्र स्तः स धर्मो वीतरागता ।
 सा मे परिणतिस्तस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥
 लोके रिक्तं न तत्स्थानमनन्ता जन्ममृत्यवः ।
 नाभूवन् यत्र किं रज्यै...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥
 लोके कृतवान्न कोपीमं हरिष्यत्यपि नो तथा ।
 अमरोऽहमजन्माहं, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥
 लोके द्रव्याण्यनेकानि वर्तन्ते किन्तु वै निजे ।
 अहन्तां किं पुनः कुर्या...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥
 इति षष्ठाह्निकम्

अक्षिपूर्णत्वसज्जातिध्यादिदुर्लभवस्तुनि ।
 प्राप्ते लाभो यदि स्वस्थः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥
 आत्मयाथात्म्यविज्ञानं दुर्लभादपि दुर्लभम् ।
 लभै रमै च तत्रैव...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥
 यस्य ज्ञायकभावस्य स्वस्य वित्तिं विना जगत् ।
 ज्ञातं व्यर्थं हि तं ज्ञात्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥
 समाप्तोऽयं तृतीयोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

ज्ञानं सुखं न चान्यन्न ज्ञोहं ज्ञानमहं सुखम् ।
 सर्वाशामहितां त्यक्त्वा, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥
 ज्ञायकोऽजोऽपरोऽहं कौ जीविताशं करोमि किम् ।
 स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥२॥
 अदृश्यो ज्ञायकोऽहं कां कीर्तिमिच्छानि काविह ।
 स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥
 ज्ञायकस्याप्यवद्वस्य विषयाद्यैव बन्धनम् ।
 स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥
 आश्नात्यागो हि मे बन्धुमित्रं भ्राता गुरुः रिता ।
 तस्यैव शरणं सत्यं....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥
 नैराश्यापि हि नैराश्यं तस्य का तुलना भुवि ।
 अतो नैराश्यमालम्ब्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥
 वीततृष्णस्य केऽप्यर्थाः क्लेशदाः सुखदा नहि ।
 ततोऽर्थाः स्युर्न वास्ताश्चः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥
 सतृष्णस्य सदाकुल्यमर्थाः सन्तु न सन्तु वा ।
 भीसारं न भवोदिच्छा....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥
 पूर्णं कस्यापि कृत्यं किं ? चिकीर्ष्येऽद्वन्द्वता कदा ।
 न चेत्त्यक्त्वा हि सर्वांशं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥
 प्रवृत्तावेव नानास्वं निवृत्तावेकरूपता ।
 शान्तिमार्गे निवृत्तिर्हि....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०॥

लोभादधस्ततः कलेशोऽतस्तृष्णालुः सदाकुलः ।
 वीततृष्णः स्वभावो मे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
 तृष्णा बन्धश्च संसारोऽताण्यं मुक्तिः स्वतन्त्रता ।
 वीततृष्णः स्वभावो मे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
 ताण्येऽताण्येऽपि वस्तूनां वियोगो नार्थकृत ततः ।
 वीततृष्णः स्वभावो मे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥
 पूर्यते पुण्यकामार्थैर्न किञ्चिन्मे ततो हि तान् ।
 त्यक्त्वात्मन्येव तिष्ठेयम्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥
 भूतो भवेषु सम्पन्नो न तुष्टोऽभूदनर्थता ।
 मायाविनीं किमाश्वासे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥
 पुण्यापुण्यफलं दृश्यमदृश्या चिच्चमत्कृतिः ।
 वीततृष्णस्य स्वस्थस्य...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥
 वर्तते मेद्य किं सम्पज्जन्मजन्मार्जितं यद्दुः ।
 दूरमास्तां विपन्मूलं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥
 स्वात्मचिन्तापि चिन्तैव चिन्तास्वानन्दवाधिनी ।
 सर्वचिन्तां विमुच्यतातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥
 वित्तं विषयदस्युः क मित्रं शत्रुः क पाटवम् ।
 तन्मूलाशा न मे यस्मात्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥

इति सप्तमाह्निकम्

निर्वाणं भोगवैरस्यं बन्धो भोगेषु गृद्धता ।

स्वायत्तमेव निर्वाणं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥

भोगमोक्षैषिणोऽनेके वाञ्छाहीनो हि दुर्लभः ।

स एव सहजानन्दः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

ज्ञाने रतस्य चर्मार्थकाममोक्षे जनौ भृतौ ॥

हेषादयेऽपि चिन्ता न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥

लामेऽपि भूतिकीर्तीनां तस्यागेन विना न शम् ।

प्रत्याख्यानमये ज्ञाने स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥

मुमुक्षुर्यो बुभुक्षुश्चालम्बतां हि शिवाशिवम् ।

इच्छाहीनः स्वविश्रातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

देहादिकं पृथक्कृत्य ज्ञाने तिष्ठानि केवले ।

स्यानि भोगयश्चोवाञ्छां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥

इदं ज्ञानं न मे ज्ञानं दर्शनं च न दर्शनम् ।

चिन्तयालं न मेऽन्तर्वाक् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

यशस्वी वैभवी वा स्यां शान्तिस्तत्रापि नो यतः ।

इन्धनं तदशान्त्यग्रेः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

आर्तकारणमाशैव कमाशासेऽत्र को मम ।

दूरमास्तां न मेऽर्थो हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

बहिर्बहिर्भ्रमो व्यर्थो ज्ञानतत्त्वमिदं स्फुटम् ।

इतोऽन्त्यन्मे सहायं मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

मूढोऽन्यममृतं मत्त्वा भ्रमेन्मे त्विह निश्चयः ।

ह्येकत्वममृतं तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥

रागद्वेषपरित्यागे कर्म मे किं कारिष्यति ।

त्यागो हि केवलं ज्ञानं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥

रागो योगेऽपि द्वेषश्चेदसम्बन्धे पुनर्न किम् ।

अयोगे रागता चेद्धा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥

शुद्धात्मानं विहायान्यचिन्ता पापोदयस्ततः ।

अन्यचिन्तां पृथक्कृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥

पराश्चाज्जीवितो मूढः स्वातन्त्र्यं मन्यते बुधः ।

शं स्वातन्त्र्यं विना नातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

देवभक्तावपि ध्यानं भावः स्वस्यैव वर्तते ।

स्वः स्वस्मै शरणं तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥

किं स्वानुकूलनेऽन्येषां किं स्वस्यान्यानुकूलने ।

शं स्वानुकूलने स्वस्यै...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥

न हानिः सहजे ज्ञाने किन्तिवदानीं न सा दशा ।

अतश्चिन्तानिरोधेन...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥

सुखं हि सर्वसंन्यासस्तु कुर्वे सर्वसंग्रहम् ।

दुःखोपायेन किं शं स्यात्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥

परसंगरतो बद्धः स्वस्थो मुक्तोऽग्रहो ग्रहः ।

तस्याग्राह्यस्य ग्राह्यस्य...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥

सुखायान्यत्प्रतीक्षैव सुखदत्त्या मता यतः ।
 सुखेनास्मि स्वयं पूर्णः स्य^१ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥
 वृत्तमस्त्याग आशा न प्रतीक्षा यत्र वर्तते ।
 परादृष्ट्या न सा स्वास्थ्ये^२ स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥
 भोगे योगे न शान्तिस्त्वच्छाहीनो वर्तते हि यः ।
 शान्त्याधारः स एवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥
 कृपां कर्तुं न शक्योऽन्यो मय्यहमेव तत्त्वमः ।
 ततोऽन्याशां परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥
 सुखं नैराश्यमेवास्ति दुःखमाशैव केवलम् ।
 स्वदृष्टेः काचिदाद्या न^३ स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥

इति अष्टमाह्निकम् ।

इन्द्रोऽप्याशान्वितो दुःखी गताशोऽसंगकः सुखी ।
 स्वास्थ्यमेव गताशत्वं^४ स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥
 आशा गतास्तदा मिद्धिर्नाभिलष्यं यतस्तदा ।
 स्ववृत्तिस्तत्पदं तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥
 यावन्मूर्च्छास्ति कस्मिंश्चित्तावन्निःशयता न हि ।
 स्ववृत्तौ नास्ति मूर्च्छातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥
 देहिनां देहभोगानां दुःखं संयोगतस्ततः ।
 संयोगं कस्य वाञ्छानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥

समाप्तोऽर्थ चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

यदाप्नोति सुखं स्वस्थो न तल्लेशं प्रतिष्ठितः ।

स्वास्थ्ये श्वं न हि रागेऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥

चिन्तेच्छया ततः क्लेशो गताश्वः सौख्यसागरः ।

गताश्वं मंगलं स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥

आकिञ्चिन्मभवं स्वास्थ्यं स्वास्थ्यं सुखस्वरूपकम् ।

न किञ्चिन्मे न किञ्चिन्मे"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥

यदा यत्कर्तुमायात्रायातु चेन्न मया कृतम् ।

ज्ञप्तिमात्रविधौ शक्तः"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥

शास्त्राप्यधीत्य स्वास्थ्यं न सर्वविस्मरणाद्विना ।

तस्माद्विकल्पनास्त्यक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥

ज्ञात्वालसः श्रमं व्यर्थं नेत्रोन्मेषनिमेषयोः ।

स्वस्थः सुखी स एवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥

दिशेदीशोऽपि साक्षाच्चेद्-विना स्वास्थ्यान्न मंगलम् ।

सुखदुःखे स्वयं दायी"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥

विश्वं सुखांशमूलं न, श्वं ज्ञानत्यागयोः फलम् ।

स्वं रमै स्वे चतुष्यानि, ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥

अद्वैते स्वेऽस्तु दृष्टिर्मा, द्वैतेऽद्वैते न सम्भ्रमः ।

विषज्जन्म न मृत्युर्वा, ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥

यत्र कुत्राप्यवस्थायामस्मि तत्रैव यत्नतः ।

कृत्वा सत्याग्रहं शान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०॥

काश्चित् कालश्च देशः स्यात् पूर्तिर्मे तद्गुणैर्न हि ।

शुद्धवृत्तिर्यतः स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥

मे चैतन्यस्य शास्त्रं क ? चर्चा ज्ञानं क कल्पना ?

स्वतो बहिर्न धावानि... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥

मे चैतन्यस्य भोगः क ? तृप्तिस्तृष्णा क वन्धनम् ?

क्वाज्ञानं क विपत्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥

दुःखे ज्ञानच्युतिर्न स्यात्, कायक्लेशेऽपि स्वस्थितिः ।

उद्देश्यं ज्ञानिनस्तस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥

न स्वज्ञप्तिं विना ध्यानं यतः स्वोपासनामयम् ।

शुद्धात्मोपासनं तस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥

ज्ञप्तिस्त्वस्तिह सर्वत्र, स्वबुद्धेः स्वस्य दर्शनम् ।

स्वाचरणं ततोऽस्त्वस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥१६॥

सुप्रमत्तदशा लोके, भ्रमो हि स्वच्युतौ दशाः ।

सर्वाभ्रमास्ततः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥

यततामव्रती वृत्ते, न तुष्येत्तु व्रती व्रते ।

ज्ञानस्थितिर्व्रतार्थोऽतः, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥

पुण्यपापे व्रताव्रतैर्मोक्षस्तद्द्वयशून्यता ।

ज्ञानमात्रस्ववृत्तिः सा, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥

शृण्वतो वदतोऽप्यात्मचर्चा न ज्ञानभावनाम् ।

विना मुक्तिस्ततोऽत्रैव, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥

मनोवाक्कायवृत्तीनां, ग्रहणे संसार एव हि ।

रमै ततः पृथग्ज्ञाने, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

इति नवमाह्निकम् ।

वदानीच्छानि पृच्छान्यात्मानं ज्ञानमयं शिवम् ।

अत्रैव विहराण्येष, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥

भिन्ने स्वस्य धिया स्वस्माच्च्युतो बध्नाम्यतः परा- ।

च्युतः श्राम्यानि बुद्ध्या स्वे, "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी ॥२३॥

स्वस्थं स्वं पश्यतो मे न, रागद्वेषौ कुतोऽसुखम् ?

शंका शल्यं कुतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

आन्त्या क्षुब्धं मनस्तस्माद्व्यग्रता नान्यथा भवेत् ।

स्वं पश्यतो न मे हानिः "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥

तत्किं यन्मयि मुञ्चानि ? यन्न तत्किं नयानि वै ?

जानन्नेवं हि तिष्ठानि "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

जीवाजीवपृथग्ज्ञानान्निवृत्तिर्जायते परात् ।

ततः स्वास्थ्यं ततः शान्तिः "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥२७॥

स्वस्थस्य सहजानन्दोऽक्षोभतायाः परच्युतेः ।

एकत्वनियतिः स्वास्थ्यं "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

संवित्पम्यासशिक्षातः स्वान्यभिन्मोक्षसौख्यवित् ।

स्वस्थितिर्मोक्षसौख्यं हि, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

स्वालक्ष्योऽन्योपकारी चेत्किलष्टः परकृतावपि ।
स्वलक्ष्योऽस्मान्मुच्येत "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥
निर्द्वन्द्वेऽजेऽमरे शान्तेऽद्वैत ज्ञानिनि निर्ममे ।
स्वस्मिन् स्थित्वा स्थिरो भूत्वा, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥३१॥
ज्ञस्वभावे मयि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं स्वभावतः ।
तत्र स्थितौ सुखं तस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥
कल्पनालोलकलोलैस्त्यक्तः शान्तः स्वयं सुखी ।
तत्राश्रयः परो नास्ति "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥
इदं सुखमिदं दुःखमज्ञस्यैव हि कल्पना ।
स्वच्छुतौ सर्वकः क्लेशः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥
नृत्वं कुलं मतिः सत्त्वं, सत्संगो देशना व्रतम् ।
स्यस्थित्यर्थाय सन्त्यस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥३५॥
रागिणो जन्मने मृत्युर्वीतरागस्य मुच्ये ।
स्वस्थितेर्वीतरागत्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥
वर्षाद्यं नूनं लोके, तत्त्वतस्तत्त्वबोधनम् ।
स्ववृत्तिर्यत्र तत्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥
स्वयं यत्कर्तुमायाति तत्कृतौ न विपत्कचित् ।
अन्यथा क्लेशता तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥
संयमेन नरो धीरो गम्भीरः शल्यनिर्गतः ।
संयमः स्यस्थितिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥

सहजानंदगीता

[८८]

पञ्चमोऽध्यायः

यावद्दूरं कषायेभ्यस्तावान् धीरः सुखी बुधः ।
अकषायः स्वेवृत्त्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥
रागद्वेषोदयस्तस्मिन्नवहं क। कृपा कृता ।
स्ववृत्तिः स्वदया तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥
बंधिका किन्न चेष्टेयम् चेष्टेयं किन्न बंधिका ।
स्थित्वा ह्यचेष्टिते भावे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥
दुखं द्वन्द्वश्च संतापो विपत्तृष्णान्ययोगतः ।
एकेऽनिष्टं न किञ्चिद्धि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥
कषायविषयत्यागे, स्वास्थ्यमन्तर्बहिर्द्वयम् ।
तत्त्यागो ज्ञानमात्रं हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥
परैः शरणमान्यत्वं नाशोऽशरणमान्यता ।
सुखं स्वः शरणं तस्मात् स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥४५॥
दुःखमूलं स्व धीरन्ये न परेऽर्थाः परे परे ।
स्वच्युतिः सा च स्वस्योऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥४६॥

इति दशमाह्निकम्

स्वलक्ष्यता महादुर्गस्तत्रत्यस्य न बाधनम् ।
तत्र गुप्तो न जेयोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥
स्वलक्ष्यता सुधासिन्धुस्तत्रत्यस्य न तापनम् ।
तत्रानिष्टः सदा शान्तिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥
पापोदये न हानिर्मे हानिः पापमये निजे ।
पापं परच्युतिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४९॥

पुण्योदये न लाभो मे लाभः पुण्यमये निजे ।
पुण्यं स्ववृत्तिता तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५०॥
प्राङ्मया चेष्टितं यत्तत्स्वकषायविचेष्टितम् ।
अकषायः स्ववृत्तिः शं... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५१॥
मनोवाक्कायिकी यावच्चेष्टेच्छातस्ततोऽसुखम् ।
सुखं स्वास्थ्यमेनिच्छा तत् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५२॥
अमे नष्टे यथा स्वप्ने तथा भ्रान्तिर्हि सर्वदा ।
निष्क्रियोऽहं यतः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५३॥

समाप्तोऽयं षष्ठमोऽध्यायः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः—

सर्वेऽर्थाः सर्वथा भिन्नाः कृत्यं किं तत्र वर्तते ?
ते सर्वे तेषु तिष्ठन्तु... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥
षेष्टन्ते स्वकषायेण प्राणिनो मे न बाञ्छकाः ।
केषु मोदै च शोचै किं... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥
ये दृश्यास्ते न जानन्ति जानन्तो निर्विकल्पकाः ।
कं बुवाणि क्व तुष्याणि... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥
स्तोतारः क्षणिकाः सर्वे स्तुत्यमन्यः क्षणध्वया ।
तुष्यः कस्तोषकः कश्च... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥

स्तुत्यं वृतं क्षणस्थापि क्षणिका वाङ्मयी स्तुतेः ।
 न मे वृतं न मे वाणी... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥
 लोकोऽसंख्योऽमितः कालोऽनन्ताः जीवाः कदा कदा ।
 स्तोष्यन्ते क्व क्व के केऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥
 स्वैकत्वेऽनुगताः स्वेभ्यः स्वस्य कुर्वन्ति ते क्रियाम् ।
 भ्रान्त्या विमुह्य किं स्यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥
 पुण्यं पापं सुखं दुःखं चेष्टा वाणी च कल्पना ।
 विद्वम्बनाः परात्सन्ति स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥
 सम्पदा विपदा भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे ।
 कुतस्तुष्याणि रुष्याणि... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥
 अयश्चो वा यशो भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे ।
 कुतस्तुष्याणि रुष्याणि... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०॥
 जीवनं मरणं भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे ।
 कुतस्तुष्याणि रुष्याणि... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
 मायास्था मयि दृष्टाः स्युः, रुष्टा मे ज्ञस्य का क्षतिः ?
 कुतस्तुष्याणि रुष्याणि... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
 ज्ञानी ज्ञानरतोऽज्ञानी मायास्थः परलोचकः :
 मायास्थवाचि को रोषः, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥
 ये स्तुवन्ति च निन्दन्ति, ते दृश्यं न तु मामिमम् ।
 शंसा निन्दा न गुप्तस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥

प्रशंसया न मे लामो निन्दया का च मे क्षतिः ?

स्वं हन्म्येव विकल्पेन ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥१५॥

ज्ञानमात्रमहं तस्माज्ज्ञानादन्यत्करोमि किम् ?

किं त्यजानीह गृह्णीयाम् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥

संसारवाहिमूडेनासाम्यमभ्रान्तवेदिनः ।

अलिप्तो हि सदा शान्तः ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥

रागद्वेषौ हि संसारो भ्रमात्तत्रोपयोजनात् ।

शुद्धं ज्ञातं विजानीयां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥

इति षकादशमाह्निकम् ।

अन्तर्बाह्यं जगत्सर्वं नश्वरं तत्र किं हितम् ?

कर्त्तव्यमितरद्वयर्थं ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥

स्वतन्त्रोऽहं परास्तेषां तन्त्रो योगवियोगयोः ।

कथं हृष्यणि खिन्दानि ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥२०॥

ज्ञानेन ज्ञानमात्रोऽहं भवाम्यन्यगुणानपि ।

साक्षात्कर्तुः कुतः क्षोभः, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

ज्ञानस्य चेष्टयाऽवेष्टोऽचेष्टीभूतः कृतो स्वयम् ।

अचेष्टनं द्वयोः सारः स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥२२॥

ध्यानं स्तुतौ च यात्रायां मनोवाक्कायखेदनम् ।

निर्विकल्पे कुतः खेदः ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥

विरक्तो विषयद्वेषी रक्तोऽस्ति विषयस्पृहः ।

साक्षी रक्तो विरक्तो न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

सुखं दुःखं स्तुतिं निन्दां कस्य कर्तुं हि कः क्षमः ?
 किं भ्रमं स्वच्युतेः कुर्याम् ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥
 सुखे दुःखे च को भेदो ? द्वयौ राकुल्यवेदनम् ।
 शान्ते ज्ञे स्वे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥
 नृस्यो रूपे कुरूपे वा को भेदोऽशुचिता समा ।
 आकुल्यकारणं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥
 सम्पद्विपत्सु को भेदः ? क्षोभः जाड्यकरीषु वै ।
 शान्तिं ज्ञे स्वे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥
 देवासेवे समे चेष्टे कषायस्याघपुण्ययोः ।
 फले ज्ञप्तिस्तु तत्त्वं मे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥
 सर्वेऽनन्तगुणोपेता न स्तुतौ पूर्णवर्णनम् ।
 किं कं कथं स्तुत्यां तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ३०॥
 प्रयोजनं न मे मत्तोऽन्यत्तत्सिद्धिर्न वान्यतः ।
 किं कं कथं स्तुत्यां तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥
 तेषामौपाधिका भावा आसन् ये सन्ति निर्मलाः ।
 किं कं कथं च निन्दानि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥
 नैर्मल्यं नान्यनिन्दातो, मालिन्यं शल्यमेव च ।
 किं कं कथं च निन्दानि-स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥
 प्रशसकेन दत्तं किं ? क्षोभं कृत्वा पलायितः ।
 किं हितं तेन किं रोचै...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

निन्दकेन हृतं किं मे ? दोषयुक्त्वा स्थिरीकृतः ।

का चित्तिस्तेन किं रौचैः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥

ज्ञप्तिक्रियस्य मे वृत्तौ निवृत्तौ चाग्रहः कुतः ?

यत्कर्तुमपि चायातुः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥

मानापमानतां मोहे पर्यायस्य न चान्यथा ।

तद्विविक्तस्य न क्षोभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥

परान् शिष्यै परैः शिष्ये मोहचेष्टैव नान्यतः ।

गुणो ह्यन्येऽपिकल्पोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥

स्वद्रव्यक्षेत्रभाषानामाप्तौ भवति शुद्धता ।

नान्यभावविक्रलोऽस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥

कर्म कर्महिताय स्थाञ्चेदहं स्वाहित य हि ।

हितं नैर्मल्यभावोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥

ज्ञानी शत्रुः कुतो भिन्नपद्मः कस्य सुहृद्रिपुः ।

स्वपरस्यः सुहृच्छत्रुः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥

स्वेकत्वस्याप्त्युपायो मे साम्यं नान्यत्कदापि हि ।

साम्यघातः परे बुद्धेः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥

साम्यं विशुद्धभिज्ञानं साम्यं विवर्जितम् ।

साम्यं स्वस्थं सुखानारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥४३॥

इति द्वादशमाह्निकम् ।

मुनीन्द्रैरपि पूज्यं तत्साम्यं सर्वोत्तमं पदम् ।

साम्यं स्वस्य स्वयं रूपं स्यां त्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥

मानापमानयोः साम्यं कीर्त्यकीर्त्योः सुखासुखे ।

व्यग्रतापश्यतो न ह्यात्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥४५॥

शंसा निन्दा विपत्सम्पत्स्वाकुलतैव केवलम् ।

नैर्द्वन्द्व्यं ज्ञानमात्रेऽस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥

अन्यवृत्तेर्न मे बाधा, बाधा स्वस्य विकल्पतः ।

प्रज्ञयाऽनाश्रयीकृत्य...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥

स्वाख्येच्छायाऽन्यनिन्दा स्यात्तस्मान्निन्दो हि निन्दकः ।

स्वं दृष्ट्वाऽनिन्दकाऽनिन्द्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥४८॥

सर्वे समाः समे मैत्री मैत्र्या शांतिर्मतेह च ।

सुखं साम्यं हि तत्स्वास्थ्ये...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥४९॥

इष्टे न हर्षभावश्चेदनिष्टे स्यान्न खेदता ।

रुन्ध्वेष्टेच्छां स्वबोधेन स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५०॥

आत्मरूपेऽन्ययोगो न विद्योमस्य च का कथा ?

कथं हृष्यणि खिन्दानि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५१॥

कलिगतेऽर्थेऽनुतर्केशं शमन्वर्थे च कल्पते ।

स्वतन्त्रोऽर्थो हि सर्वोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥५२॥

हृद्यसाम्यं स्तौ मोहे तस्माज्ज्ञायकरूपिणम् ।

ज्ञानन्मुक्त्वा रतिं मोहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५३॥

यस्मिन्साम्ये विनष्टाः स्युराशाः साम्यं सदास्तु तत् ।

साम्येन सहजानन्दः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५४॥

श्रद्धा वृत्तं श्रुतं ज्ञानं सत्यं साम्यं भवेद्यदि ।
तर्देव स्वसुखं स्वास्थ्यं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५५॥

समाप्तोऽयं षष्ठोऽध्यायः

कौ दृश्यं नश्वरं सर्वं दुःखमूलं पृथक् हि तत् ।
निन्द्यं हेयमदस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥
न कोऽपि शरणं भूतो न च कश्चिद्भविष्यति ।
शरणस्य भ्रमं हत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥
न भूतो न भविष्यामि कस्यचिच्छरणं कदा ।
कर्तृत्ववारूणीं क्षिप्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥
बन्धुभिर्ग्रां सुतो दारा भृत्यः शिष्यः प्रशंसकः ।
एभ्यो येन हितं शक्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥

अथ सप्तमोऽध्यायः—

मृत्यौ सत्यां न यास्यन्ति केऽपि ये रागद्विनिः^०
केभ्यः कुर्यामसद्गुर्यान्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥
यथात्रसस्य नार्थाः प्रागन्यत्रेमे न केऽपि मे ।
क हितं क सुखं मृज्यां ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥
आस्तां दूरे पुरे वासः संगो दूरे जनैषिणाम् ।
दूरे प्रशंसकाः सन्तु... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥
सुखं सत्त्वं हितं तत्र तेभ्यः किञ्चिन्न वर्तते ।
न च वत्स्यामि तत्राहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥

दुःखं सुखं विपत्सम्पत् कल्पनामात्रमेव तत् ।
 किं भिन्नं खेददं कल्पै...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥
 पराधीनं सुखाभासं परकीयां कृतिं मुधा ।
 लब्धुं क्लिन्नानि किं ? स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी ॥१०॥
 स्वच्युतेर्हेतवो भोगा अशान्तिर्भोगवेदनम् ।
 चेष्टे किमेतदर्हं ह्यः...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
 स्वयं भिन्ने च किं हेयं भिन्ने काऽऽदेयता मम ।
 अन्तर्क्यो ज्ञानमात्रोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
 किञ्चिदिष्टमनिष्टं न कल्पना क्लेशदा भ्रमे ।
 नाहमज्ञानरूपोतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥

इति त्रयोदशमाह्निकम् ।

भोगभ्रमेण दुःखानि भ्रान्त्या भुक्त्वा इतं जगत् ।
 आयापायेऽपि तापोस्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥
 व्रतेऽप्यहंत्वमज्ञत्वं संयोगी ज्ञी न दुःखभाक् ।
 प्रीतिर्मे नास्तु कस्मिंश्चित्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥
 कातरो लोकदृष्ट्यास्मि, स्यां लोका न सहाटिनः ।
 मोहस्वप्नमिदं दृश्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥
 स्वबाह्ये न हितं किञ्चित् किं कल्पे शृण्वानि किम् ?
 ज्ञानानि किञ्च पश्यानि ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥
 देहोऽस्तु वा न को लामः ? का हानिर्मे तु शान्तिदा ?
 ज्ञानदृष्टिः सदा भूयात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥

न मे द्वन्द्वो न मे संगः सर्वकृत्यं हि मत्पृथक् ।
 कस्मै स्थामाकुलोऽद्वैतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥
 सर्वसारमिदं कार्यं निवृत्तिः सर्वकार्यतः ।
 ततो विस्मृत्य सर्वाणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥
 पुण्यार्थभोगसम्बन्धाः सन्त्यनर्थपरम्परः ।
 एषु कृत्यं हितं किं मे, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥
 जीवनं मरणं किं को लोकः का चास्ति लीनता ?
 मायारूपाणि सर्वाणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥
 सर्वचिन्ताकषाचेष्टाभिरलं तासु नो हितम् ।
 यतो निष्क्रियभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥
 चैतन्ये मयि नो देहो न प्राणा इन्द्रियाणि वा ।
 रागादिस्तान् कथं यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥
 क्षेमं करोऽक्षभोगो न तत्राज्ञः सन् कथं रमै ।
 क्षेमंकरः त्वयं स्वस्मै स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥
 दृश्यो रम्यो न विश्वास्यां ज्ञानमात्रमहं यतः ।
 विश्वसानि रमै क्वाहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥
 त्यागादाने परे भिन्ने किमौपाधिक एव हि ।
 हेयोऽवाश्रित्य तं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥
 दृश्यं जडमदृश्योऽन्यश्चेतनश्च तथा पृथक् ।
 कास्मिन् रुष्याणि तुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

वृक्षे खगा इवायाति क्षणं यान्ति स्वकर्मतः ।

विश्वास्यं मे किमत्रातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

एकान्तेऽस्तु निवासो मे सर्वविस्मरणं भवेत् ।

संयोगेन न मे लाभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥

भोगाः भुक्त्वा मुहुस्त्यक्तास्तानुच्छिष्टान् किमर्थये ।

ज्ञानमात्रं हि भुज्जानः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥

भुक्त्वा त्वज्जानि भावोऽयं सव्याजो निवृत्तिस्तदा ।

भावयेयं निवृत्त्याहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥

निरायुरै क्षये हेतोः कालस्येच्छा हि तृणया ।

तृष्णां स्वनाशिर्नो भुक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥

परान् पश्यामि व्यापन्नान् तथा पश्यानि स्वं यदि ।

दोषमुक्तः स्वलक्ष्यः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

स्वोपादानेन जायन्तेऽर्था जायन्तां न वा ततः ।

हितं नैव निजं दृष्ट्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥

आसमस्मि भाविष्यामि सुखे-दुःखेऽहमेककः ।

परयोगे न लाभो मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥

खेदेन विषये वृत्तिवृत्तौ पश्चाच्च खेदता ।

भोगः खेदमयस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥

शंशकाः मां न पश्यन्ति पश्यन्तो व्यक्त्यलक्ष्यकाः ।

कौ का निष्ठा निजास्यास्या स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥

इति दशमादिकम्

भिन्नपूतितनोरास्था स्वं किं लाभयते ततः
कौ का निष्ठा निजास्थास्था...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी ॥३९॥

नामाक्षरैर्न सम्बन्धो ह्यात्मनः किं तदाख्यया ।

कौ का निष्ठा निजास्थास्था...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी ॥४०॥

न किमेकदशारूपोऽनाद्यनन्तस्तदा रुचिः ।

कास्तु मे लोकनिक्षेपे...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥

रागवह्नीन्धनं दृश्यं किं संचित्येन्धनं स्वयम् ।

शीतलोऽपि पतान्यमौ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥

मृत्यु के ह्युद्यताः मृत्युरावात्या रुस्मिकं तः

सन्दिग्धायुषि सद्दृष्ट्या...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥

ज्ञातुं कथं श्रमं कुर्यां ज्ञेया भान्ति स्वयं ततः ।

सर्वश्रमं परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥

न भोगो भोक्तुमायाति सन् बुद्धिस्योऽककारणम् ।

किं तं बुद्धिगतं कुर्यां...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥

कल्पनया यया प्राप्तोऽकल्प्यः सापि न मे यदा ।

कोऽन्यो भव्यः पुनस्तत्सात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥

समाप्तोऽयं सप्तमोऽध्यायः ।



अन्तिमाख्यानम्

ग्रंथकर्तुः परिचयः

आर्या

बौन्देलदुमदुमापुर्वासि श्रीमद्गुलावचन्द्रस्य
श्रीतुलसायास्तनयेन श्रीमद्गणेशशिष्येण
सहजानन्देन मनोहरेण सहस्रविंशततमे व्यब्दे
शुक्ले पौषे रचिता श्री सहजानन्दगीतेयम् ॥ युगम् ॥

समर्पणम्

स्वस्ति श्री श्रीमताऽध्यात्मसुषामिन्बोर्महात्मनः ।
न्यायाचार्यस्य सार्वस्य विष्टपट्टया वर्णिनः ॥ १ ॥
श्रीगणेशप्रसादस्य प्रसादेनानुशिक्षितः ।
श्रद्धानतः समामारी दीक्षितो लोचनीकृतः ॥ २ ॥
ज्ञातस्वः सहजानन्दः शिष्यो वर्णी मनोहरः ।
संसारच्छेदसन्दृष्टा कृतज्ञोऽङ्ग पदाबलिम् ॥ ३ ॥
शिक्षादीक्षागुरोर्वाल्मीकगुरोश्चर्याप्रवर्तिनः ।
श्रद्धेयपुण्यसेवायामर्पयामि महादरम् ॥ ४ ॥
अर्पणस्य प्रसादेन स्वस्मै स्वे स्वयं स्वतः ।
अर्पयित्वा स्थिरीकृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ५ ॥
॥ कुलकम् ॥

इति सहजानन्दगीता समाप्ता ।

अथ मूलश्लोकानामकारादिक्रमेण शब्दानुक्रमणिका ।

अ	अध्याय	श्लोक नं.
अग्निना काश्चनं यद्वत्	३	३७
अद्वैतानुभवः सिद्धिः	१	४९
अद्वैते स्वेऽस्तु दृष्टिर्मे	५	९
अदृश्यो ज्ञायकोऽहं कां	४	३
अन्तर्बाह्यं जगत्सर्वं	६	१९
अन्यथानुपपत्तेः स्या	२	२६
अन्यवृत्तेर्न मे बाधा	६	४०
अन्योन्यत्वेन दुःखं	१	३६
अनंतज्ञानसौख्यादि	१	५६
अमरोऽहमजन्माहं	१	९
अयश्चो वा यश्चोभूया	६	१०
असंकृतेर्हि वस्तूनां	३	१९
अहंकारादिना दृष्टः	१	२०
अहं स्वं जन्म मृत्या	१	३१
अक्षपूर्णत्वसहजाति	३	४६

	अध्याय	श्लोक नं.
आ		
आकिञ्चन्यभवं सौख्यं	५	३
आत्मजागरणं यत्र	१	३०
आत्मयाथात्म्यविज्ञानं	३	४७
आत्मरूपेऽन्ययोगो न	६	५१
आत्मत्तामस्पृहै कामे	१	३७
आप्तपूर्णे भवे ह्येको	३	१४
आर्तकारणमाद्यैव	४	२८
आशागतास्तदा सिद्धि	४	४६
आशात्यागोहि मे बन्धु	४	५
आसमस्मि मविष्यामि	७	३६
इ		
इच्छाबंधो न मे हानि	२	२०
इदं सुखमिदं दुःख	५	३४
इदं ज्ञानं न मे ज्ञानम्	४	२६
इन्द्रोऽप्याशान्वितो दुःखी	४	४५
इष्टे न हर्षमावश्ये	६	५०
उ		
उत्तमस्त्याग आशा न	४	४१
ए		
एकान्तेऽस्तु निवासो मे	७	३०

अध्याय	श्लोक नं.
क	
कान्योऽहं क च चिता	२ ४०
कर्म कर्म हिताय स्या	६ ४०
कर्त्रकर्त्रादिकल्पाः स्यु	२ १९
कर्तृत्वं न स्वभावो मे	२ ३५
कल्पनया यया प्राप्नो	७ ४६
कल्पना यत्र भासंते	२ ५
कल्पनालोल कल्लोलैः	५ ३३
कल्पितेऽर्थेऽनुवर्तकं	६ ५२
कश्चित्कालश्च देशः स्या	५ ५१
कष्टे प्राणमुपेक्षन्ते	२ ४६
कषायविषयत्यागे	५ ४४
कः कस्य कीदृशः कवेति	२ ५५
कातरो लोकदृष्ट्यास्य	७ १६
कामे बोध रिपावर्धे	२ १३
कारणं सर्वदुखानां	३ १८
कार्यं हेतुर्नान्ये मे	२ १५
कल्पोऽन्तो जगोऽसंख्यो	६ ६
किं कृत्यं क्व रमै चित्तं	२ ३४
किञ्चिदिष्टमनिष्टं न	७ १३
किं स्वानुकूलनेम्येषां	४ ३६

	अध्याय	श्लोक नं.
कीटोभूषो नृपः कीटो	३	१२
कृपां कर्तुं न शक्योऽन्यो	४	४३
को दूरे कश्च सामीप्ये	२	४१
को दृश्यं नश्वरं सर्वं	७	१
ख		
खेदेन विषये वृत्ति	७	३७
ग		
ग्रामे वने निवासो मे	२	४३
घ		
घिन्तेच्छया ततः क्लेशो	५	२
चेष्टन्ते स्वकषायेन	६	२
चैतन्ये मयि नो देहे	७	२४
ज		
ज्योतिर्मयो महानात्मह	१	५७
जनौघैर्वाङ् मनःकर्म	२	३२
जागृतिःशयनंषानं	२	२७
जीवनं मरणं किं को लोक	७	२२
जीवनं मरणं भूयोऽज्ञान	६	११
जीवाजीवपृथग्ज्ञाना	५	२७
जीविताशा प्रतिष्ठाशा	१	१५

जीवो दृश्यो नयोऽदृश्यो

अध्याय

श्लोक नं.

१

१६

त

त्यागादाने परे मित्रे

७

२७

तत्किञ्चनमपि मुञ्चानि

५

२६

तत्त्वतो ज्ञानमात्रोऽहं

१

४७

तत्त्वज्ञ आलसो मूर्ता

२

२३

तत्त्वज्ञो जायते मूको

२

२९

तप इच्छा निरोधोऽतः

३

३६

ताण्येऽताण्येऽपि वस्तुनां

४

१३

तिर्यग्नारकदेवानां

१

३५

तृष्णाबंधश्च संसारो

४

१२

द

दृष्टारं स्वयमात्मानं

१

१६

दुःखमूलं स्वाधिरन्ये

५

४६

दुःखं द्वन्द्वश्च संतपो

५

४३

दुःखं सुखं विपत्संपत्

७

९

दुःखाश्रयो हि देहोऽयं

३

२६

दुःखी किञ्चिदपि किं

१

५३

दुःखे ज्ञानच्युतिर्न स्यात्

५

१४

	अध्याय	श्लोक नं.
दुस्त्याज्या वेद्रतिस्थक्ता	१	१७
हरेऽस्तां पुरसंवास	७	७
दृश्यं जडमदृष्टोऽन्य	७	२६
दृश्यं न दर्शकस्तत्त्व	२	५१
दृश्यो रम्योन विश्वास्थो	७	२६
देवभक्तावपि ध्यानं	४	३५
देशो देहश्चभिन्नात्मा	२	४७
देहबुद्ध्या वपुःस्वस्थ	१	३२
देहादिकं पृथक्कृत्य	४	२५
देहादेव यदामिन्न	३	२१
देहान्तरं ब्रजाम्येको	३	१५
देहिनां देहमोगानां	४	४८
देहि कश्चिन्नर्यो	३	७
देहे स्वबोधता दुखं	१	३४
देहे स्थित्वापि न स्पृष्टो	२	८
देहोऽणुन्नज्जः स्वात्मा	३	२२
देहोऽस्तुवान को लाभः	७	१०
देहो न शुद्ध्यते सिन्धो	३	२५
ध्याने स्तुतौच यात्रायां	६	२३
धर्म उद्धारक स्यात्ता	३	४०

	अध्याय	श्लोक नं.
धर्मो वेष्टे न यात्रायां	३	४१
न		
न करोमि न चाकार्ये	१	४
न किमेकदशा रूपो	७	४१
न कोऽपि घरणं भूतो	७	२
न भूतो न मविष्यामि	७	३
न भोगो भोक्तुमायाति	७	४५
न मे द्वन्दो न मे संगः	७	१९
न मे वर्णो न मे जाति	२	४
न मे लोको न चाज्ञातो	२	७
नश्येत् निर्ममत्वेन	३	३३
नश्वर चेन्द्रियाधीने	३	१
नष्ट भ्रमो यथा स्वप्ने	५	५३
न स्वज्ञप्तिं विना ध्यानं	५	१५
न हानि सहजे ज्ञाने	४	३७
नाकारो न विकल्पो न	२	४८
नानाचेष्टै न मे लाम	२	२१
नानामतानि तत्त्वेषु	२	१०
नामाक्षरैर्न सम्बन्धो	७	४०
नाहमन्यत्रनान्यस्य	२	२

अध्याय	श्लोक नं.
नाहं देहो न मे वाणो	२ ३९
निजचेष्टा फलं ह्यन्ये	१ ५५
निन्दकेन हतं किं मे	६ ३५
निन्द्ये देहेऽप्युषित्वा	३ २७
निर्द्धयाज्ञानजान्घं स्वं	१ ५९
निर्द्धन्देऽजेऽग्रे श्रुति	५ ३१
निर्मिश्रश्चेतनामित्रो	१ १२
निर्वाणं मोगवैरस्यं	४ २१
निर्विघ्नश्चेतनां वंशो	१ ११
निर्वित्तश्चेतनाविचो	१ १३
निरापुरै च ये हेतोः	७ ३३
निष्क्रीर्तश्चेतना	१ १४
नृत्वं कूलं मतिः सत्त्वं	१ ३५
नृरुत्यो, रूपे कुरुपेवा	६ २७
नोपद्रवो न मे द्वन्दो	१ १०
नैर्मह्यं नान्धनिन्दा लो	६ ३३
नैराशयेऽपि हि नैराश्वं	४ ६

५

प्रयत्नो वाञ्छया	१ २७
प्रयोजनं न मे मत्तो	६ ३१

अध्याय	श्लोक नं.
प्रवृत्तावेव नानात्वं	४ १०
प्रशंसके न दत्तं किं	६ ३४
प्रशंसया न मे लाभो	६ १५
प्राप्ता ये दुर्गतेः क्लेशाः	३ १३
प्राञ्जया चोष्टितं यत्तत्	५ ५१
परस्पितेः परः स्थान	२ ३१
परसंगरतो बद्धः	४ ३९
परायत्तपरार्थाः स्वा	२ २९
परान् पश्यामि व्यापन्ताम्	७ ३४
पराधीनं सुखाभासं	७ १०
पराम् शिष्यै परैः शिष्ये	६ ३०
पराशा जीवितो मूढः	४ ३४
परः कोपि हितो मे नो	२ ७
परै दृष्टे न दृष्टः स्वः	२ ३७
परैः शरणमान्यत्वं	५ ४५
पलास्थिरुचिरे देहे	३ २४
पङ्गोर्दृष्टिर्यथान्धेन	१ २३
पापोदये न हानिर्मे	५ ४९
पुण्यपापै वृत्तावृतौः	५ १९
पुण्या पुण्यफलं दृश्य	४ १६

पुण्योदये न लाभो मे
पुण्यं वापं सुखं दुखं
पुण्यार्थं भोग सम्बन्धाः
पूर्णदग्गान सत्सौख्यी
पूर्णं कस्यापि कृत्यं किं
पर्यते पुण्य लाभार्थं

अध्याय	श्लोकनं.
५	५०
६	८
७	२१
१	५८
४	९
४	१४

केनपुञ्जेऽपि सारः स्यात्

बन्धिका किन्न चेष्टये
बन्धुभिर्भ्रं सुतो दारा
बन्धैकत्वोऽपि देहादेः
बहिर्बाहर्भ्रं मोक्षार्थो
बन्धवृद्धयुवप्राप्ते
बाह्यं तपोऽपि नाशाय

५	४२
७	४
२०	२०
४	२९
३	८
३	१९

भ्रान्त्या क्षुब्धं मनस्तस्मा
मवेऽप्यस्मिन् सुदुर्दुखं
मावनाग्रमवः क्लेशो

५	२५
१	१६
१	४४

अध्याय	श्लोक नं.
भिन्नदर्शी भवेद्भिन्नः	२ ६
भिन्नयूतितनोरास्था	७ ३६
भिन्ने स्वस्य धियास्तस्मा	५ २३
भुक्त्वा त्यजानि भावाऽयं	७ ३२
भूतोभवेषु सम्पन्नो	४ १५
भोगमोक्षेपिणोऽनेके	४ २१
भोगश्रमेण दुःखानि	७ १४
भोगयुक्ता मुहुस्त्यक्ता	७ ३१
भोगे योगे न क्षाति	४ ४२

म

मनो मे न स्वभावोऽहं	२ २४
मनोवाक्कायवृत्तीनां	३ ३०
मनोवाक्कायचेष्टेच्छा	३ २८
मनोवाक्कायवृत्तिश्चे	३ ३१
मनोवाक्कायवृत्तीनां	५ २१
मनोवाक्कायिकीयाव	५ ५२
मयि सौख्यं भया मे मत्	२ ३८
महान् स्वभ्रान्तिजः क्लेशो	१ ३३
मानापमानतो मोहे	६ ३७
मानापमानयोः साम्यं	६ ४५

अध्याय	श्लोक नं.
मायास्था मयि हृष्टाः स्युः	६ १२
शुक्त्वेदं कल्पनाजालं	३ ३४
शुनीन्द्रैरपि पूज्यं	६ ४४
सुसुक्षुर्यो बुभुक्षुश्च	४ २४
मृढोऽस्यमवृत्तं मत्वा	४ ३०
मृत्यौ सत्यां न यास्यति	७ ५
मृत्यु के हयुद्यताः	७ ४३
मेचैतन्यस्य शास्त्रं क	५ १२
मेचैतन्यस्य भोगः क	५ १३
मोक्षक्षोभौ न यत्र स्तः	३ ४२

य

यज्ज्ञानेन जगन्मन्ये	२ ५४
यतोन्ते क्लेशदाः सर्वे	३ २
यत्रचित्तस्य न क्षोभः	१ ३८
यत्र वासो रतिस्तत्र	२ ५२
यत्रकुत्राप्यवस्थाया	५ १०
यतताम व्रतीवृते	५ १८
यत्रैव भाति रागादि	२ २५
यत्रैव भासते विश्वं	२ २४
यथात्रत्यस्य नार्थाः प्राक्	७ ६

	अध्याय	श्लोक नं.
यत्रैव भासते विश्वं	२	२४
यथाश्रत्वस्य नाथः प्राक्	७	६
यदम्बेर्षा कृते चेष्टे	३	१७
यदा देहोऽपि नैवाहं	२	५२
यदाऽज्ञता तदासीन्मै	१	२२
यदा यत्कर्तुमायात्वं	५	४
यदान्पोति सुखं स्वस्थः	५	१
यदुपासै तदाप्तिः स्या	१	४२
यन्न गगवशः प्रापम्	३	११
यश्चस्थी वैमवी वा स्यां	४	२७
यस्मिन्साम्ये त्रिन्ष्टाः स्युः	६	५४
यस्मिन् ज्ञानमेष बलं	१	२९
यस्य ज्ञायकभावस्य	३	४८
यः संयोगजया दृष्टया	२	१
यातायाणु पुञ्जोऽयं	२	४४
यातिने तो न चायाति	१	६
यादृक् सिद्धात्मनोरूप	१	२
यावत्प्रवर्तनं लोके	२	१८
यावन्मूर्च्छास्ति कस्मिंश्चित्	४	४७
यावान्दूरः कषायेभ्यः	५	४०
ये दृश्यास्ते न जानन्ति	६	३

	अध्याय	श्लोक नं.
येषां योगो वियोगो हि	३	४
ये स्तुवंति च निन्दन्ति	६	१४
यस्मै मम सम्बन्धो	३	२३
योवनं जराया व्याप्तं	३	३
र		
रागद्वेषौ हि संसारः	३	९
रागादि पश्चियेत्तावत्	१	६०
रागादिवर्णतः प्रत्यक्	२	४६
रागद्वेषोदयस्तस्मिन्	५	४१
रागद्वेषपरित्यागे	४	३१
रागद्वेषौ हि संसारो	६	१८
रागभावः स्वयं स्वा	१	१
रागः ह्रीन्धनं दृश्यं	७	४२
रागिणो जन्मने मृच्यु	५	३६
रागो योगेऽपि हेयश्चे	४	३२
राऽप्ये कलेश क्षणं यत्नो	२	३०
ल		
लामोऽपि भूतिकीर्तनां	४	२३
लोकं कृतवान् कोऽपीमं	३	४४
लोके द्रव्याप्यनेकानि	३	४५
लोके रिक्तं न तत्स्थानं	३	४३

	अध्याय	श्लोक नं.
लोभादेषस्ततः कजेशो	४	११
व		
व्यवहारे परावस्था	२	४५
व्रतेऽप्यहम्त्वयज्ञत्वं	७	१५
वदानीच्छानिपृच्छान्या	५	२२
वर्तते मेघ किं सम्यग्	४	१७
वर्षाद्यं नूतनं लोके	५	३७
वाञ्छन् गृह्णन् त्यजन् हर्षन्	१	२१
वासनान्तेन संसारः	२	१२
वित्तं विषयदस्युः क्व	४	१९
विभक्तकृत्त्व बोधस्य	२	९
वियोगयोगदुःखादौ	३	१६
विरक्तो विषयद्वेषी	६	२४
विरागः परिणत्या मे	३	३९
विश्वतो भिन्न एकोऽपि	१	३
विश्वं सुखांशमूलं	५	८
विषर्वाद्वषयांस्त्यक्त्वा	२	३
विषं पात्वापि जीवेच्येत्	३	६
वीततृष्णास्य केप्यर्थाः	४	७
वृत्तिदृष्टौ तपोव्यर्थ	२	३६

वृत्ते खगाश्वायांति

श

अध्याय

श्लोक नं.

७

२६

अंदावृतं अवज्ञानं

६

५५

संसका मां न पश्यन्ति

७

३९

शंसा निन्दा विपत्संपत्

६

४६

शास्त्राण्यधीत्य स्वास्थं न

५

५

शुद्धात्मानं विज्ञायान्य

४

३३

शुद्धोस्त्वौपाधिको भावः

६

३२

शुद्धोप योग लक्षणेना

३

३२

शुभः कृपायमानधेना

३

२९

शृण्वतो वदतोऽप्यात्म

५

२०

स

स्तुत्यं वृतं क्षणस्थायि

६

५

स्तोतारः चणिकाः सर्वे

६

४

स्वन्युतर्हेतवो भेगा

७

११

स्वतन्त्रोऽहं परास्तेषां

६

२०

स्वद्रव्य क्षेत्रमावना

६

३९

स्वभावा सिद्धतै तेतु

१

६१

स्वमिन्नं हितं किञ्चित्

१

२५

स्वयं भिन्ने च किं हेयं

७

२

अध्याय	श्लोक नं.
५	३९
१	५
५	४७
५	४८
७	१७
५	२४
५	२६
६	४१
६	४८
४	१८
१	७
५	३०
१	५०
१	५१
१	४८
६	४२
६	७
७	३५
२	२८
४	८

	अध्याय	श्लोक नं.
सद्दृष्टिज्ञानचारित्रैः	१	४६
सर्वचिन्ताकथाचेष्टा	७	२३
सर्वसारमिदं कार्यं	७	२०
सर्वेऽनंतगुणोपेताः	६	३०
सर्वेऽर्थाः सर्वथा मित्राः	६	१
सर्वेसमाः समे मैत्री	६	४९
सहजानंदभावः क	१	२६
संचितं कर्म चेदस्तु	२	४२
संपद्विपत्सु को भेदः	६	२८
संपदा विपदा भूयाज	६	९
संयम्याद्याणि मुक्त्वा च	१	४३
संयमेन नरोधीरो	५	३९
संविन्यम्या सशिश्नातः	५	२९
संसारजो हि पर्यायः	३	१०
संसारवाहिमूढेना	६	१७
साम्यं विशुद्धविज्ञानं	६	४३
सारे देहिषु सर्वेषु	१	४५
साक्षादीशोऽपि दिश्याच्चेत्	५	७
सुखं दुःखं स्तुतिं निन्दां	६	२५
सुखं नैराश्यमेवास्ति	४	४४

	अध्याया	श्लोक नं.
सुखं सत्त्वं हितं तत्र	७	८
सुखं हि सर्वसन्यासः	४	३८
सुखायान्यत्प्रतीक्षेव	४	४०
सुखारिर्दुर्गतिर्देन्यं	२	१४
सुखे दुःखे च को भेदः	६	२६
सुप्तमत्तदशा लोके	५	१७
सेवासेवे समे चेष्टे	६	२९
६		
हर्षादिवासनाजन्य	२	११
हितैषी हितयंताऽस्मि	१	३९
हृद्यसाम्यं रतौ मोहे	६	५३
७		
चेमं करोऽक्ष भोगो न	७	२५
८		
ज्ञप्ति क्रियस्म मे वृत्तौ	६	३६
ज्ञप्तिमात्रदशार्था न	१	१४
ज्ञप्तिस्त्वदिह सर्वत्र	५	१६
ज्ञस्वभावे मयि ज्ञाते	५	३२
ज्ञात्वा रागफलं दुःखं	१	१८
ज्ञात्वालसःश्रमं व्यर्थ	५	६

अध्याय श्लोक

ज्ञाति। दृष्टाहमेकोऽहं	१	८
ज्ञातुं कथं श्रमं कुर्या	७	४४
ज्ञातृत्वं मयि सर्वेषु	१	२३
ज्ञानदृष्टौ क्व मोक्षाध्वा	२	४३
ज्ञानविण्ढोऽन्यमिन्नोऽहं	१	५४
ज्ञानमस्तीति कर्तृत्वं	२	५०
ज्ञानमात्रमहं तस्मात्	६	१६
ज्ञानस्य चेष्टयाऽचेष्टो	६	२२
ज्ञानं स्वमेव जानाति	१	४०
ज्ञानं सुखं न चान्यत्र	४	१
ज्ञानं ज्ञानं न कोपादि	३	१५
ज्ञानी ज्ञानरतोऽज्ञानी	६	१३
ज्ञानेन ज्ञानमात्रोऽहं	६	२१
ज्ञाने रतस्य धर्मार्थि	४	२२
ज्ञायकत्वे विकारः क्व	१	५२
ज्ञायकस्याप्यवदस्य	४	४
ज्ञायकोऽजोऽमरोऽहं कौ	४	२